सिद्धयोग

वर्ष-२६ : अंक- ११ फरवरी १९९४

संस्थापक :
योग योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, सँवाई, आगरा

प्रकाशक :
श्री देवीप्रसाद शर्मा
'दिव्य'
कृते श्री सिद्धगुफा
प्रकाशन
सबोई, आगरा

सम्पादक
श्री 'दिव्य'

फरवरी
1994

इस अंक में पढ़िए

लेख	लेखक		पृष्ठ
● प्रेयश्च प्रेयश्च (प्रार्थना)		....	1
● योगी श्री नारायनदास जी	—योग-योगेश्वर श्री चन्दमोहन जी महाराज	....	2
● मैं कौन हूँ, क्यों हूँ ? (सम्पादकीय)		....	4
● भगवान सूर्यदेव और उनका ध्यान	—श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दार	....	7
● एक यौगिक प्रक्रिया—बाल-मचलन	—योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज	....	9
● यत्न पूर्वक चरित्र की रक्षा करिए	—आचार्य श्री तारिणीश	....	15
● मोह को तजो, मोहन को भजो !	—ब्र० श्री ओमप्रकाश पालीवाल	....	17
● धर्म-युद्ध का उद्बोधन	—श्री स्वामी वीरेश्वरानन्द	....	23
● दो गद्य-गीत	—श्री ओमप्रकाश त्रिखा	....	24
● स्व-आत्म-अध्ययनम् वा स्वाध्यायः	—ब्र० जगन्नाथ 'पथिक'	....	25
● पत्रं-पुष्प-फलं-तोयम्	—(चाणक्य नीति से)	....	27
● वास्तविक कर्त्तव्य	—श्री विष्णुप्रसाद व्यास	....	29

वार्षिक मूल्य 55 रुपया। एक अंक का मूल्य 6 रुपया
द्विवार्षिक मूल्य 100 रु०। आजीवन मूल्य 551 रु०।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्माद्पुर) आगरा

वर्ष २६
अङ्क ११

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुखं विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्यर्थाद् बहुविधादं योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणानां भवत् महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥

फरवरी
१९९४

श्रेयश्च प्रेयश्च

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥

अर्थात्

अधिकांश मनुष्य तो पुनर्जन्म में विश्वास न होने के कारण इस विषय में विचार ही नहीं करते, वे भोगों में आसक्त होकर अपने देव दुर्लभ मनुष्य-जीवन को पशुवत् भोगों के भोगने में ही समाप्त कर देते हैं। किन्तु जिनका पुनर्जन्म में और परलोक में विश्वास है, उन विचारशील मनुष्यों के सामने जब ये श्रेय और प्रेय दोनों आते हैं, तब वे इन दोनों के गुण-दोषों पर विचार करके दोनों को पृथक्-पृथक् समझने की चेष्टा करते हैं। इनमें जो श्रेष्ठ बुद्धि सम्पन्न होता है, वह तो दोनों के तत्व को पूर्णतया समझकर नीर-क्षीर-विवेकी हंस की तरह प्रेय की उपेक्षा करके श्रेय को ही ग्रहण करता है। परन्तु जो मनुष्य अल्पबुद्धि है, जिसकी बुद्धि में विवेक-शक्ति का अभाव है, वह श्रेय के फल में अविश्वास करके प्रत्यक्ष दिखायी देने वाले लौकिक योग-क्षेम की सिद्धि के लिए प्रेय को अपनाता है; वह इतना ही समझता है कि जो कुछ भोग पदार्थ प्राप्त हैं, वे सुरक्षित बने रहें और जो अप्राप्य हैं, वे प्रचुर मात्रा में मिल जायें।

योग-योगेश्वर
अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी
महाराज

योगी श्री नारायणदास जी की योगिक साधना के विवरण के साथ ही पढ़िये इस लेख में श्री गुरुदेवजी की साधना के उनके अपने अनुभूत संस्मरण भी। —सम्पादक

योगी श्री नारायणदास जी

(पूर्व प्रकाशित से आगे)

अपने शरीर-त्याग से केवल दो वर्ष पूर्व ही उन्होंने सवांई-आश्रम आना प्रारम्भ किया था। बहिन द्रौपदी जी और भाई जी अमृतसर में एक ही गली में रहते थे। अतः यह सब लोग मिल कर ही श्री सिद्ध गुफा के दर्शनार्थ आया करते थे। भाई जी सिद्ध गुफा पर आने को सदैव उत्सुक रहा करते थे। प्रायः बहिन द्रौपदी जी आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के जन्मोत्सव श्री राम नवमी पर ही सवांई आने का कार्यक्रम बनाया करती हैं। गत दो वर्षों से भाई नारायणदास जी भी साथ आये थे। अतः इस बार बहिन द्रौपदी जी ने प्रतिवर्ष की भाँति उनसे कहा—पण्डित जी श्री सिद्ध-गुफा के दर्शनार्थ कब चल रहे हैं? इस बार नारायणदास जी यह सुनकर कुछ हँसे और उत्तर दिया—द्रौपदी, अब की बार श्री प्रभुजी की आज्ञा नहीं है। एक अन्य बड़ी यात्रा होने वाली है, हमको तो वहीं जाना होगा, जहाँ के लिए उनका हुक्म है। तुम लोग ही इस बार श्री सिद्ध गुफा के दर्शन करना। बहिन द्रौपदी जी ने आग्रहपूर्वक पूछा—आपको यह यात्रा कब करनी है? कहाँ जाना है? श्री नारायणदास जी ने कहा—चिन्ता मत कर, द्रौपदी, जिस दिन जाऊँगा तुझे अवश्य सूचित कर दूँगा।

देहावसान से काफी दिन पूर्व ही उनकी इस प्रकार की बातें प्रारम्भ हो गई थीं। प्रायः अपने सभी इष्ट-मित्रों को उन्होंने यह बता दिया था कि यह उनकी अन्तिम यात्रा है। शनैः शनैः दिन बीतने पर उनकी महायात्रा का वह दिन भी आ पहुँचा। सायं को नारायणदास जी ने बहिन द्रौपदी जी को सन्देश भेजा—कल सुबह पाँच बजे मैं तुम्हें बुलाऊँगा। तुम अवश्य आ जाना! यदि देर से आओगी तो हम चले जायेंगे और फिर तुम पछताओगी। उस दिन भाई नारायणदास जी रात्रिभर जागरण करते रहे और तीन बजे प्रातः ही नैत्यिक क्रिया-कलापों से निवृत्त हो गए। पूर्ण प्रेम से श्री प्रभुजी की आरती-पूजन किया और श्री प्रभुजी के मन्दिर के सामने आसन लगाकर बैठ गए। पाच बज गए थे, अतः बहिन द्रौपदी देवी को फिर भी सन्देश भेजा—

द्रौपदी, जल्दी चली आ। समय नहीं है। हम तो अपने निश्चित समय पर चले ही जायेंगे। यदि देरी से आई तो पछताओगी।

भाई नारायणदास जी पाँच बजे अपने आसन पर बैठ गए थे। समाहित होने से पूर्व उन्होंने प्रणव का लम्बे श्वांस के साथ उच्चारण किया। "प्रणवंप्रेजपे दीर्घं सर्वविघ्नोपशान्तये"—इस उक्ति के अनुसार उन्होंने पहिले ही अपनी सब विघ्न-बाधाओं को हटा दिया, और शनैः-शनैः योग विधि से ध्यान-मग्न हो गए। भाई जी के सन्देश को पाकर जब बहिन द्रौपदी जी उनके यहाँ पहुँचीं, उस समय तक नारायणदास जी ध्यान-मग्न हो चुके थे। जोरों से उनका भस्त्रिका 'प्राणायाम' चल रहा था, जिससे उनके पाँचों प्राण वायु योगमुक्त हो चुके थे। बहिन द्रौपदी जी उनसे कोई बात नहीं कर सकीं क्योंकि वह नारायणदास जी के सन्देश की कुछ उपेक्षा करके थोड़े विलम्ब से पहुँची थीं। उन्होंने उनको केवल समाहित-स्थिति में ही देखा। सबके देखते ही देखते सूर्योदय के साथ ही वह शरीर को त्याग कर दिव्य-स्थिति को प्राप्त हुए। भाई नारायणदासजी ने अपने जीवन में श्री प्रभुजी की आज्ञाओं का पूर्णतः पालन किया था। फलतः मनुष्य जीवन के चरम-लक्ष्य को प्राप्त करके कृतार्थ हो गए।

उनकी पुत्री शकुन्तला देवी अभी तक स्वस्थ रूप से इस संसार में हैं। उनका निवास स्थान देहरादून है। श्री प्रभुजी के चरण-कमलों की स्वाभाविक अनुरागिनी हैं। भाई नारायणदास जी ने कुछ समय पूर्व ही शरीर-त्याग किया है।

★ एक बात जरूर याद रखो कि तुम्हारी अन्तरविकसित क्रियाशक्ति गुरु ही है। इसलिए तुम्हारे साधन को शुद्ध निर्मल बनाने के लिए किसी की संगति, विचार करके करो। कुसंगति महान प्राणघातक है, अतिशय हानिकारक है। दुःसंग से बचने का दृढ़ व्रत ले लो। दुःसंग से मनुष्य में आसुरी सम्पत् के सभी दुर्गुणों और दुराचारों का स्वभावतः विकास होता है। दुःसंग से मनुष्यों के सभी सद्गुणों का नाश हो जाता है। परम सुशील, स्नेहमयी प्रेममयी कैकेयी मन्थरा दासी की कुसंगति के कारण ही राजा दशरथ, भरत और तमाम अयोध्यावासियों के शोक का कारण बनी थी और उसको अपने परम प्रिय भरत का भी त्याग करना पड़ा था। जैसे दूध का समुद्र भी क्यों न हो, उसको खट्टे रस की एक ही बूंद बिगाड़ देती है, वैसे ही कुसंगति से सभी दुष्ट आचरण सहज में आ जाते हैं। जागतचर्चा, लोक निंदा, अविवेक, घमंड, द्वेष, अपवित्रता, असत्याचरण, सिनेमा-नाटक और होटल के अशुचि अन्न जैसी वस्तुओं में रुचि, कुसंग से हो जाती है। इससे सिद्धविद्यार्थियों को सर्वथा बचना चाहिये, क्योंकि यह अन्तरशक्ति के वेग को कम करती है।

सम्पादकीय :—

मैं कौन हूँ, क्यों हूँ ?

प्रत्येक मननशील व्यक्ति के मन में, जो अपनी वयस्क अवस्था में आ पहुँचा है यह प्रश्न प्रायः सामने आ खड़ा होता है कि 'स्वयं मैं कौन हूँ और क्यों इस धराधाम पर आया हूँ ?' योगदर्शन में इसी प्रश्न और इसके समाधान खोजने की प्रक्रिया को स्वाध्यायशीलता की संज्ञा दी गई है। यदि हम स्वाध्यायशीलता को अपनी वृत्ति बना लें यानी हम आत्म-निरीक्षण करने की आदत अपनालें तो हमारा आत्मा ही दैवी प्रेरणाओं का स्रोत बनकर हमें मार्ग-दर्शन देने लगता है। और—

महर्षि पतञ्जलि कृत योग-दर्शन में 'स्वाध्यायशीलस्य देवता सम्प्रयोगः' सूत्र का आशय भी यही है कि स्वाध्यायशील व्यक्ति की समस्याओं और असाध्य उलझनों को सुलझाने या उनके उचित समाधान प्रदान करने को दैवी प्रज्ञा स्वयं प्रकट होकर आगे बढ़ाने के लिए साधक को मार्ग-दर्शन देने लगती है। इसी मार्ग-दर्शन को कहते हैं प्रज्ञा-प्रसाद।

× × ×

यह 'प्रज्ञा-प्रसाद' जिन्हें सुलभ हो जाता है वे कृतकृत्य हो जाते हैं और समझने लगते हैं कि मैं इस विनाशशील देह-पिञ्जर में बन्द मुक्त गगन में विहार करने वाला ऐसा पक्षी हूँ जिसकी यात्रा का अन्तिम बिन्दु अनन्त में ही कहीं समा जाता है। इसे यह भी भान होने लगता है कि जिस पाँचभौतिक पिंजड़े में मैं आ पड़ा हूँ ऐसे अनेक असंख्य पिंजड़े मैंने अपने अतीत में पाये और छोड़े हैं, आगे भी न जाने कितने हिरण्य मय चमकदार पिंजड़ों में मेरा वास होगा, यह मैं या हम नहीं जान पाते। प्रज्ञा-प्रसाद के फलस्वरूप इतना जरूर जान पाया है कि यह सभी देह-पिञ्जर चाहे वे अतीत के हों, वर्तमान के हों या भविष्य के—विनाशी धातु के बने हुए रहते हैं और आगे भी यह ऐसे ही विनाशी बने रहेंगे। इनमें आ फँसने वाले हम निश्चित रूप से अविनाशी हैं—अमृत-पुत्र हैं। न हमारा जन्म होता है न मृत्यु ही हमें बाधित करने में समर्थ हो पाती है। जब मेरी या हमारी ऐसी स्थिति है तो भय क्यों है ?

'क्यों हम मृत्यु के आगमन की आशंका से थरथराया करते हैं ? योग-योगेश्वर ने अपने गीता-शास्त्र में आत्मा के गुणों का जो परिचय कराया है उससे हमें अपने अविनाशी अजर-अमर स्वरूप की वास्तविकता का ज्ञान भली प्रकार हो आता है ?

सद्गुरु भी बताते रहे हैं कि अपने आत्म-तत्व पर पड़ा हुआ अज्ञान का आवरण ही साधक के अज्ञान का कारण होता है। जब तक इस अज्ञान-आवरण को हटाने का उपक्रम नहीं करेगा—ज्ञानदीप लेकर जब तक वह इसे भस्मीभूत नहीं करेगा तब तक वह ज्ञान ही

नहीं पायेगा अपने वास्तविक स्वरूप को। योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने ज्ञान को ही सर्वोत्तम तत्व बताया है। गीता में उन्होंने स्पष्टता से कहा है कि ज्ञान से बढ़कर संसार में कुछ भी उत्तम और पावनतम् नहीं है। यथा :

नहिं ज्ञानेन सदृशं पवित्र मिह विद्यते।

साधक पूछता है, ठीक है ज्ञान इस धरती पर सबसे अधिक श्रेयस्कर और पावनतम् है, पर यह भी तो बताइए कि क्या मार्ग है इस ज्ञान के पा जाने का ?

भगवान साफ-साफ शब्दों में बताने लगे—'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् तत्परः संयतेन्द्रिय' अर्थात् जो तत्पर और श्रद्धालु होते हैं वे ही ज्ञान की उपलब्धि कर पाते हैं तथा श्रद्धा और तत्परता का आगमन संयतेन्द्रिय साधकों के अन्तःकरण में ही हुआ करता है जो संयतेन्द्रिय नहीं होते उनमें न तो श्रद्धा का उदय हो पाता है न तत्परता का। फलतः जब तक यह गुण नहीं आ पाते तब तक ऐसे साधक ज्ञान प्राप्ति से सदा वंञ्चित रहकर अविद्या के अंधकाररूप आवरण में ही व्यर्थ भटकते रहते हैं। ऐसे लोग न अपने वास्तविक स्वरूप को समझ पाते हैं न सृष्टि को और न सृष्टिकर्ता को ही जान पाते हैं। साथ ही न वे इस मुख्य प्रश्न का कोई उचित समाधान खोज पाते हैं कि वे इस सृष्टि में मानव देह लेकर क्यों आये हैं ?

सृष्टि का यह आदि प्रश्न ज्ञानहीन पुरुषों के सामने मुँह खोले सदा खड़ा ही रहता है कि मैं कौन हूँ, और क्यों आ उतरा हूँ इस वसुधाधाम पर ?

उपनिषद् कालीन ऋषियों के सामने भी जन-साधारण का यह शाश्वत प्रश्न उचित समाधान चाहने के लिए आ खड़ा हुआ था कि हम कौन हैं और क्यों हैं ? प्रश्न सामूहिक रूप में आया था इसीलिए 'मैं' का स्थान 'हम' ने ले लिया ? सारे ऋषियों ने इस पर दीर्घकाल तक विचार-विमर्श किया। अनेक समाधान सामने आये और गये किन्तु कोई भी एक उत्तर सबका समाधान नहीं कर सका। अन्त में ऋषिगोष्ठी में सर्व-सम्मत निश्चय यह लिया गया कि सब ध्यानयोग का आश्रय लेकर आत्म-मंथन करें और बतायें कि :

केनेषितं पतित प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥

इस मन्त्र में प्रकारान्तर से यह पूछा गया है कि जड़रूप अन्तःकरण, प्राण, वाणी आदि कर्मेन्द्रिय और चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों को अपना-अपना कार्य करने की योग्यता प्रदान करने वाला और उन्हें अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त करने वाला जो कोई एक सर्व-शक्तिमान् चेतन है, वह कौन है ? और कैसा है आदि ?

इस उपनिषद् कालीन ऋषिगोष्ठी में न केवल मैं कौन हूँ और क्यों हूँ—यह प्रश्न सामने आया बल्कि इससे सम्बन्धित यह सवाल भी उभर कर सामने आये कि व्यक्ति रूप में मैं या समष्टि रूप हम में देखने, सुनने, बोलने, सूँघने, चलने, बैठने और चिन्तन की जो विलक्षण शक्ति है उसका संचालन कहाँ से कैसे हो रहा है और कौन सी वह

अदृश्य शक्ति है जो संचालक के रूप में इन सबका संचालन और संपादन कर रही है ? इन सभी उभरे हुए प्रश्नों के समाधान के लिए सर्व-सम्मति से ध्यानयोग के माध्यम से समाधि का आश्रय लिया गया। पश्चात् यह समाधान सबके सामने आया कि इस ब्रह्माण्ड की सभी प्रकार की शक्तियों का संचालक एकमात्र ब्रह्म है, यह ब्रह्म ही मैं अथवा हमारी सभी शक्तियों का, आदि स्रोत है इसे जानकर ही अपने को भी जानने में हम समर्थ हो सकेंगे। और जब तक हम अपने को समझ लेंगे तब तक हमें—मैं क्या हूँ, और क्यों हूँ ? यह जान लेने से भी देर नहीं लगेगी। वास्तव में हम और आप इस मानव देह में ब्रह्म तत्व को जानने और जानकर उससे एकाकार होने के लिए ही इस मानव देह में आये हैं। यही इस मानव जीवनका मुख्य उद्देश्य है ? और यही योगी-जीवन अथवा योग समाधि का उद्देश्य होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति कर डालना ही इस जिज्ञासा का सही समाधान होगा कि मैं क्या हूँ, और क्यों हूँ ?

—सम्पादक

शरीर की संज्ञाएँ

वेद भारतीय ज्ञान के अक्षय कोष हैं। उनमें क्रान्तदर्शी ऋषियों के अध्यात्म अनुभवों का बहुत ही उत्कृष्ट काव्यमय वर्णन पाया जाता है। उस काव्य की परिभाषाएं अनेक उपाख्यान और सुन्दर रूपकालङ्कारों के द्वारा प्रकट की गई हैं। अध्यात्म-ज्ञानी लोग प्रायः सर्वत्र ही रहस्यपूर्ण अनुभवों को शब्दों में व्यक्त करने के लिए इसी विलक्षण व्यंजना प्रधान शैली का आश्रय लिया करते हैं। लौकिक काव्य के निर्माता सन्त कवियों ने भी शरीर को चादर, चर्खा, सरोवर आदि अनेक नाम देकर मनोहर रूपकों के द्वारा उसका वर्णन किया है। कबीरदासजी ने अपने अध्यात्मक अनुभवों को व्यक्त करते हुए निम्न-लिखित भजन में इसी शैली का अवलम्बन किया था

झिनि झिनी झिनि झिनी बीनी चदरिया।
आठ कमल दस चरखा डोलै पाँच तत्त गुण तीनी चदरिया।
साँई को सियत मास दस लागे ठोंक ठोंक कर बीनी चदरिया॥
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी ओढ़ि के मैली कीन्हीं चदरिया।
दास कबीर जतन सों ओढ़ी ज्यों की त्यों धर दीन्ही चदरिया॥

यहां शरीर का रूपक चादर की दृष्टि से बांधा गया है। यह देह एक वस्त्र है, जिसके निर्माण में विधाता के बहुत बड़े कौशल का परिचय मिलता है। गीता आदि शास्त्रों में भी इस मानवी देह की तुलना वस्त्रों से की गई है। इस परिभाषा को ठीक न जानकर कबीर के उपर्युक्त पद का कोई भी ठीक अर्थ नहीं जान सकता।

भगवान सूर्यदेव और उनका ध्यान

☐ श्री हनुमानप्रसाद जी पोद्दार और उनका दृष्टिकोण

ध्यान जिस वस्तु को परम आवश्यक मानकर उसे प्राप्त करना चाहता है, उसके चित्त से उस वस्तु का चिन्तन स्वाभाविक ही बार-बार होता है एवं उसके चित्त में अपने ध्येय पदार्थ की धारणा दृढ़ हो जाती है और आगे चलकर वही धारणा—चित्त-वृत्तियों के सर्वथा ध्येयाकार बन जाने पर 'ध्यान' के रूप में परिणत हो जाती है। जितने काल तक वृत्तियां ध्येयाकार रहती हैं, उतने काल की स्थिति को ध्यान कहा जाता है। ध्यान की बड़ी महिमा है। भगवान ने श्रीमद्भागवत में कहा है कि जो पुरुष निरन्तर विषयों का ध्यान करता है, उसका चित्त विषयों में फँस जाता है और जो मेरा ध्यान करता है, वह मुझ में लीन हो जाता है। योग अनेक हैं, जैसे—भक्तियोग, ज्ञान-योग, राजयोग, लययोग, मन्त्रयोग, हठयोग और निष्काम कर्मयोग; इनमें से किसी-न किसी रूप में सभी योगों में ध्यान की आव-श्यकता और उपयोगिता है। इस ध्यान से ही भगवान् के स्वरूप में समाधि और ध्यान से ही भगवान् की प्राप्ति भी होती है।

ध्यान के अनेक प्रकार हैं। साधक को अपने-अपने अधिकार, रुचि और अभ्यास की सुगमता देखकर किसी भी एक प्रकार के ध्यान का अभ्यास करना चाहिए; परन्तु साथ ही मन में इतना निश्चय रखना चाहिये कि सत्य तत्त्व परमात्मा एक ही है। वे एक ही अपने को अनेक रूप में धारण कर लेते हैं। भक्त जिस रूप में उन्हें पकड़ना चाहे, उसके उसी रूप में वे पकड़ने में आ जाते हैं। निर्गुण, निराकार और सगुण, साकार सभी उन्हीं के रूप हैं। श्री विष्णु, शिव, ब्रह्मा, सूर्य, गणेश, शक्ति, श्रीराम तथा श्रीकृष्ण आदि सभी एक ही हैं। प्राप्य मार्ग के अनु-भव भिन्न-भिन्न होते हुए भी सबके अन्त में प्राप्त होने वाला सत्य एक ही है। इसी सत्य के कोटिशः विविध प्रकाश हैं। किसी भी प्रकाश का अवलम्बन करके उस मूल प्रकाश को पा सकते हैं; क्योंकि ये सभी प्रकाश न्यूनाधिक शक्ति वाले दीखने पर भी वस्तुतः उस मूल सत्य से सर्वथा अभिन्न और पूर्ण ही हैं। वे स्वयं ही विभिन्न प्रकाशों में अवतीर्ण होकर अपने को ही सामने प्रकाशित कर रहे हैं।

ध्यान के समय शरीर, मस्तक और गले को सीधा रखना चाहिये। रीढ़ की हड्डी सीधी रहे। कुबड़ाकर न बैठें। जब तक ध्येय के आकार की वृत्ति सर्वथा न बने, शरीर का बोध बना रहे और सांसारिक स्फुरणाएँ मन में उठती रहें, तब तक इष्ट मन्त्र का जप करता रहे और बारंबार चित्त को ध्येय में लगाने की चेष्टा करता रहे। लय (नींद), विक्षेप, कषाय, रसास्वाद, आलस्य, प्रमाद एवं दम्भ आदि दोषों से बचे रहने के लिए भी प्रयत्नशील रहे। यह विधि नियमित ध्यान के लिए है। यों तो साधक को सभी समय, सभी क्रियाओं में

अर्थात् खाते-पीते-सोते, उठते-बैठते, सुनते-बोलते तथा चलते-फिरते चित्त को संसार की व्यर्थ स्फुरणाओं से रहित करके अपने इष्ट-सूर्य नारायण का चिन्तन और ध्यान करना चाहिये। ध्यान के समय आँखें मूंद लेनी चाहिये अथवा नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि जमाकर रखनी चाहिये।

आँखें मूंदकर अथवा अभ्यास हो जाने पर प्रत्यक्ष सूर्यमण्डल में देखें कि 'दिव्य रथ के भीतरी भाग में पद्मासन पर विश्वात्मा चतुर्भुज, परम सुन्दर प्रफुल्ल कमलसदृश मुखमण्डल वाले हिरण्यवर्ण पुरुष विराजित हैं। उनके केश, मूंछें और नख भी हिरण्यमय हैं। उनका दर्शन पापों का नाश करने वाला है। वे सभी लोगों को अभय देने वाले हैं। उनके ललाट की आभा पद्म के गर्भपत्र के समान लाल है। वे समस्त जगत् के प्रकाशक और सब लोगों के अद्वितीय साक्षी हैं। मुनिजन उनका दर्शन और स्तवन कर रहे हैं।' ऐसे भगवान् आदित्य का दर्शन करके यह निश्चय करे कि वे आदित्य मुझसे अभिन्न हैं। फिर इस निश्चय के साथ ही अपने को उनमें चित्तवृत्ति के द्वारा विलीन कर दे।

ध्यान की अमित महिमा है। महर्षि पतञ्जलि ने अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पांच महान् क्लेश बताये हैं। संयमादि क्रिया योग से ये क्षीण होते हैं—इनका दमन होता है, परन्तु समूल नाश नहीं होता। बीज रूप से ये छिपे रह जाते हैं और अनुकूल अवसर और सङ्ग पाकर पुनः अंकुरित एवं फुल्लित-फलित हो जाते हैं। परन्तु ध्यानयोगी तो क्रमशः पूर्ण समाधि में परिणत होकर उनके बीज तक को नष्ट कर देता है। ध्यान का आनन्द कोई लिख कर नहीं बता सकता। इसके महत्व और आनन्द का पता तो साधना करने पर ही लगता है।

ऊर्ध्वबाहु विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

मैं दोनों हाथ उठाकर पुकार-पुकार कर कह रहा हूँ पर मेरी कोई नहीं सुनता? धर्म से मोक्ष तो सिद्ध होता ही है अर्थ और काम भी सिद्ध होते हैं, तो भी लोग उसका सेवन क्यों नहीं करते।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुख दुःख से त्वनित्ये, जीवो नित्यो हेतुरस्यत्वनित्यः॥

कामना से, भय से, लोभ से, प्राण के बचने के लिए भी धर्म का त्याग न करे। धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य। इसी प्रकार जीवात्मा है और उसके बन्धन का हेतु अनित्य।

एक यौगिक प्रक्रिया :—

-: बाल-मचलन :-

□ योगिराज श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

[यौगिक आसनों से सम्बन्धित 'यौवन तत्व साधन' नामक एक उपयोगी पुस्तक योगिराज श्री द्वारा लिखी गई है। स्वास्थ्यसमाचार के बाल-मचलन शीर्षक यह लेख उसी पुस्तक का एक अंश है। आशा है पाठक स्वास्थ्यसमाचार के लिए इस क्रिया को समझकर उसे करने का अभ्यास करेंगे।]

—सम्पादक

स्वस्थ जीवन 'तत्व साधन' की छठी क्रिया का नाम बाल-मचलन है। जब छोटे बच्चे अपनी माता से रूठ जाते हैं तब वे चारपाई पर पड़े-पड़े हाथ-पैर चलाया करते हैं। इस क्रिया को करने के लिए सीधे चित्त लेट जाइये, दोनों हाथों की मुट्ठियों को बाँध लीजिए और हाथों को कड़ा करके दोनों पैरों तथा हाथों को उसी प्रकार जल्दी-जल्दी चलाना चाहिए जैसे बच्चे मचलने के समय करते हैं। दोनों हाथ छाती के पास आगे पीछे चलते रहेंगे। पैर भी आगे-पीछे होते रहेंगे। इस क्रिया में जब दायें पैर को ऊपर करेंगे तो दायाँ हाथ ऊपर चला जायेगा और जब बायाँ पैर ऊपर करेंगे तो बायाँ हाथ ऊपर की ओर चला जायेगा। इस प्रकार से दोनों हाथों व पैरों को क्रमशः जल्दी-जल्दी चलाना चाहिए किन्तु सिर यथावत् रूप में जमा रहना चाहिए। इस क्रिया को एक मिनट तक करना चाहिए।

इस क्रिया को करते समय साधक की मनोभावना एक बच्चे की तरह हो जाती है और शरीर में एक स्वाभाविक आह्लाद पैदा हो जाता है। हाथ-पैरों को वेगपूर्वक चलाने से जो शरीर की नस-नाड़ियों का व्यायाम हो जाता है इसका यह लाभ तो अलग है ही। पर सबसे बड़ा लाभ मन की प्रसन्नता से सम्बन्ध रखता है। आज वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि खूब जोर से हँसने से स्वास्थ्य में बड़ा सुधार हो जाता है। मन में विकार आने पर अनेक प्रकार से रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ईर्ष्या-द्वेष से तिल्ली व जिगर के रोग हो जाते हैं। निराशा और डर से हृदय रोग हो जाता है। क्रोध और घृणा से मुहँ में विकार हो जाता है। चिन्ता से छाती और सिर में फोड़े व पीलिया रोग हो जाते हैं।

क्रोधी माँ का दूध पीने से बच्चों को प्रायः दस्त आने लगते हैं। चित्त की प्रसन्नता से कोई बीमारी नहीं होती और मनुष्य दीर्घायु प्राप्त करता है। प्रसन्न चित्त होकर भोजन करने से भोजन खूब पच जाता है। प्राचीनकाल में जब राजा लोग भोजन करते थे, उस समय विदूषक और हँसमुख व्यक्ति वहाँ हँसी का वातावरण उत्पन्न करते थे।

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि दिन में काम से कम एक बार खूब जोर से ठट्ठा मार कर हँसना आवश्यक है। यदि किसी अन्य से न हँस सको तो अपना ही चेहरा शीशे में देखो और हँसो। 'बाल मचलन' करने वाले को तो एक बार हँसने और प्रसन्न होने का

अच्छा मौका लग जाता है। यदि आपको हँसने का अवसर नहीं मिलता तो 'बाल-मचलन' क्रिया कीजिए। इसके पश्चात् आप देखेंगे कि आप में प्रसन्नता की लहर दौड़ने लगेगी जो और आपको दिन भर तरोताजा बनाये रखेगी।

इस क्रिया में यही गुण नहीं है कि करने वाला ही प्रसन्न होता है वरन् जो कोई दूसरा देखता है वह भी बिना हँसे नहीं रहता। प्रसन्न चित्त रहने का यह एक क्रियात्मक सफल साधन है।

अंग्रेजी में कहावत है कि Laugh three times a day and keep the doctor away. अर्थात् दिन में तीन बार बाल-मचलन क्रिया करने लगें तो अनायास हँसने का मौका मिल जायेगा और आपको डाक्टर या वैद्य का द्वार नहीं खटखटाना पड़ेगा। प्रसन्न चित्त रहने के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों के मत निम्नलिखित हैं :—

1. हँसो, शरीर से पुष्ट बनोगे।
—(बेन आनसन)

2. हँसो, दीर्घकाल तक जीओगे।
—(शेक्सपीयर)

3. प्रसन्न मुख को देखकर बड़े लोग भी खुश होते हैं। —(बृहत्संहिता)

4. हँसने के समान आरोग्यदायक दूसरा व्यायाम नहीं। —(ब्रूफलैंड)

5. बिना हँसी के जीवन तो डरावना है।
—(थकरे)

6. जब तू हँसेगा तो विश्व भी तेरा साथ देगा। —(बिल्कास)

7. घर में बच्चों के हँसने-कूदने की ध्वनि पृथ्वी का अत्यन्त मधुर नाद ही है।
—(एक चिन्तक)

8. स्वच्छ मन और हास्य देखते ही मालूम हो जाता है कि वह कितना शुद्ध और आनन्दयुक्त है।
—(विक्टर ह्यूगो)

आज तक जितने व्यायाम मानव समाज में प्रचलित हैं उनमें खिलखिलाकर हँसना सर्वश्रेष्ठ है। क्योंकि हँसने से हमारे समस्त स्नायुओं पर समान तनाव पड़ता है। ईश्वरीय सृष्टि में हँसी का आनन्द लेने का अवसर केवल मनुष्य को ही प्राप्त है, क्योंकि पशु-पक्षी आदि रो तो सकते हैं पर हँस नहीं सकते।

चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए और प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए मनुष्य अनेक प्रकार का उपाय करता है। कोई नशा पीता है, कोई जुआ, ताश, शतरंज खेलता है। कोई सिनेमा देखता है तो कोई दोस्तों में बैठकर गप्पबाजी करता है। किन्तु ये सब उपाय अनैतिक तथा पैसा व समय नष्ट करने वाले हैं। यदि थोड़ी-सी प्रसन्नता मिलती भी है तो उसके बदले भारी कीमत चुकानी पड़ती है। बाल-मचलन की क्रिया कितनी आसान, बिना खर्च वाली, कम समय वाली तथा अधिकतम लाभ देने वाली है। अन्य उपायों से प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए बाह्य उपकरण की आवश्यकता पड़ती है किन्तु बाल-मचलन बिना किसी अन्य उपकरण के कहीं भी की जा सकती है और प्रसन्नता का लाभ उठाया जा सकता है। श्री महाप्रभुजी का यह एक अनोखा आविष्कार है जो युवकों एवं वृद्धों को भी बालक बना देता है।

हमारा शरीर असंख्य जीवित सैलों का एक समूह है। हमारे मन व मस्तिष्क के प्रत्येक भले-बुरे अनुभव का प्रभाव उस पर

पड़ता है। क्रोध के कारण मनुष्य का सम्पूर्ण शरीर गरम हो जाता है, काँपने लगता है। भय के समाचार से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। दिल धड़कने लगता है। चित्त जब प्रसन्न होता है तो सारा चेहरा फूल के समान खिला हुआ दिखाई देता है। आँखें हँस रही सी जान पड़ती है। जो बालक परीक्षा में उत्तीर्ण होने का शुभ समाचार देने के लिए घर दौड़ता है उसका शरीर आनन्द के मारे उससे भी आगे निकल जाने को तत्पर रहता है। यह बात गलत है कि जब कोई कष्ट आ पड़ता है तो चिन्ता व शोक घेर लेते हैं और मनुष्य का वश नहीं चलता। जिनको अपने स्वास्थ्य-सुधार का ध्यान है वे सदैव हर हालात में प्रसन्न रहने का अभ्यास करते है। एक व्यक्ति कुछ रुपये कमाता है, वह रोता है और फकीर जो खाली हाथ है वह हँसता है और मस्ती से गाता रहता है। यह सब मन का फेर है। यदि आपका मन बहुत समझाने पर भी हँसता नहीं है और हर समय चिन्तित व खेदयुक्त रहता हैं तो आप बाल-मचलन क्रिया का अभ्यास कीजिए। ऐसा करने पर आप देखेंगे कि प्रसन्नता आपके पास दौड़ी आ रही है।

रोगी की चिकित्सा में प्रसन्नता का बड़ा हाथ रहता है। एक बार पाँच व्यक्ति नाव पर कहीं जा रहे थे। निश्चित स्थान दूर था तभी एक व्यक्ति के पेट में तीव्र पीड़ा उत्पन्न हो गई। जी मचलने लगा। उसी पार्टी का एक व्यक्ति बड़ा हँसोड़ा था। उसको एक सुन्दर कहानी याद आ गई और वह सुनाने लगा, जिसको सुनकर सभी के पेट में बल पड़ गये। सभी लोग हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये। वह पेट का रोगी व्यक्ति भी हँसा और खूब हँसा, जिससे उसके पेट का दर्द एक बारगी दूर हो गया।

एक मनोवैज्ञानिक चिकित्सक के पास एक युवक को लाया गया उसकी आयु बीस वर्ष की थी। वह हृदय रोग से पीड़ित था। जाति का ठाकुर होते हुये भी अति दुर्बल था। उसके पिता व चाचा की अच्छी खेती-बारी थी और उन दो भाइयों के बीच वही अकेला लड़का था। युवक के रोगी होने पर उसके पिता ने उसे अच्छे-अच्छे वैद्यों-डाक्टरों को दिखाया और हजारों रुपया इलाज में खर्च किया, मगर कोई लाभ नहीं हुआ। अन्त में उसे लखनऊ मेडिकल कालेज ले गये और वहाँ डाक्टरों ने एक्स-रे आदि करके बतलाया कि युवक के हृदय की झिल्ली पर एक ट्यूमर बन गया है, जो दवा से ठीक नहीं हो सकता। उसका आपरेशन ही इलाज है, किन्तु हृदय का आपरेशन नाजुक है और हो सकता है कि रोगी की मृत्यु हो जावे। अतः डाक्टरों ने कहा कि यदि युवक के पिता बाण्ड भर देवें तो आपरेशन किया जा सकता है। युवक के पिता भयभीत होकर घर लौट आये और अपने परिजनों से सलाह करने लगे। उसी समय किसी ने एक मनोवैज्ञानिक चिकित्सक का पता बताया और कहा कि उनसे भी राय ले ली जाय।

मनोवैज्ञानिक ने युवक की पत्नी से, उसके माता-पिता से अनेक प्रश्न किये और रोग के कारण का पता लगाकर कहा कि आपरेशन की कोई आवश्यकता नहीं है। यह युवक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा द्वारा ठीक हो जायेगा। उसके घर वाले बहुत प्रसन्न हुए और हजारों रुपये देने को तैयार हो गये। मनोवैज्ञानिक ने कहा—कि इसके इलाज में दो मास लगेगा और इस बीच युवक की स्त्री, माता-पिता, चाचा, बहिन आदि सभी परिजनों को मेरे पास आना पड़ेगा तथा मेरे

प्रश्नों का सही उत्तर देना होगा ताकि मैं रोग की ग्रन्थि को खोल सकूं और युवक को स्वस्थ बना सकूं। ऐसा ही किया गया और दो मास में वह युवक स्वस्थ हो गया। उसका पुनः एक्स-रे कराया गया तो ट्यूमर का कहीं पता नहीं था, सभी विकार दूर हो गये और वे लोग प्रसन्नता पूर्वक अपना जीवन बिताने लगे। मनोवैज्ञानिक ने अपनी डायरी में लिखा है कि प्रश्नों द्वारा यह मालूम हुआ कि जब युवक 12 वर्ष का था तभी उसका विवाह कर दिया गया। उसकी स्त्री एक पढ़ी-लिखी आधुनिक विचारों वाली लड़की थी।

उसकी आयु 19 वर्ष की थी। लड़की स्वस्थ और यौवन पर थी युवक 12 वर्ष का दुबला-पतला बालक था। पहले ही दिन लड़की ने अपने बालक पति को फटकार दिया और उसका तिरस्कार किया। युवक को कुछ ठेस लगी और वह बीमार रहने लगा। लड़की अपने मायके चली गई और पुनः ससुराल आने से इनकार कर दिया। युवक के मन पर एक प्रहार हुआ और उसका जिगर बढ़ गया। उसे पीलिया रोग हो गया और अधिक कमजोर होने लगा। उसके पिता ने अच्छे-अच्छे डाक्टरों द्वारा उसका इलाज कराया और धीरे-धीरे वह स्वस्थ हो गया। उसकी दुर्बलता आती रही और वह खेती-बारी का काम देखने लगा। अब उसकी आयु 16 वर्ष की हो गयी। उसके पिता और नाना ने उसका दूसरा विवाह एक अच्छी-सी लड़की से कर दिया। दैवयोग से इस बार विवाह के बाद जो लड़की आई वह 20 वर्ष की थी। वह बड़ी स्वस्थ, सुन्दर और आकर्षक थी। कुछ दिन तो पति-पत्नी का साथ चलता रहा, किन्तु लड़का छोटा था और लड़की बड़ी इससे मेल नहीं बैठा। लड़की के मन पर असन्तोष छा गया और लड़का हीन भावना से ग्रस्त हो गया।

युवक का पिता प्रौढ़ शरीर से स्वस्थ व बलवान था। घर में अपने लड़के की बहू को नित्य देखता था। धीरे-धीरे उसके मन में विकार उत्पन्न हो गया और कालान्तर में युवक के पिता का अनैतिक सम्बन्ध युवक की पत्नी से हो गया।

कुछ दिन तो यह मामला छिपे-छिपे चला, मगर भेद खुलता गया। अब तो वह लड़की अपने पति के सामने उसके कमरे से उठकर श्वसुर के कमरे में चली जाती और वहीं रात बिताती। युवक हीन भावना से ग्रस्त था। उसमें विरोध की शक्ति नहीं थी। वह अपनी निगाहों से इस दुराचार को देख रहा था पर प्रतिरोध नहीं कर पा रहा था। इससे उसके हृदय पर गहरा आघात लगा और परिणामस्वरूप उसके हृदय पर ट्यूमर उभर आया।

मनोवैज्ञानि ने अपनी चिकित्सा पद्धति द्वारा सभी भेदों का रहस्योद्घाटन कर दिया। उसके परिवार के सभी लोगों को बुलाकर उनके विचारों में परिवर्तन किया। युवक और युवती को समीप लाने के लिए अनेक मनोवैज्ञानिक उपाय किये और थोड़े दिनों के लिए उस दम्पति को पहाड़ों पर ले जाया गया और वहाँ उन्हें प्रसन्नतापूर्वक एक-दूसरे से मिलने, घूमने, मिलने, खाने और विहार करने की सुविधा प्रदान कर दी गई। युवक के

आहार-विहार में समुचित परिवर्तन करके उसका स्वास्थ्य सुन्दर बना दिया। लड़की के विचारों में भी परिवर्तन आ गया और वह अपने पति से प्रेम करने लगी। दोनों प्रसन्नता पूर्वक जीवन यापन करने लगे। इस प्रकार वह युवक बिना किसी औषधि या आपरेशन के स्वस्थ हो गया। मनोवैज्ञानिक का मूलमन्त्र था मन में छिपे विकारों को बाहर कर देना तथा प्रसन्नता का जीवन में प्रवेश करा देना। प्रसन्नता वह सजीवनी बूटी है जो भयंकर से भयंकर रोगों को भी दूर कर सकती है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि—

प्रसादे सर्व दुःखानां,
हानिरस्योपजायते।
प्रसन्न चेतसो ह्याशु,
बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।

अर्थात्

पाकर प्रसाद पवित्र जन-
के दुःख कट जाते सभी।
जब चित्त नित्य प्रसन्न रहता,
बुद्धि दृढ़ होती तभी।

अर्थात्—प्रसन्नता के होने पर सम्पूर्ण दुःखों का नाश हो जाता है। प्रसन्न चित्त वाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।

प्रसाद का साधारण अर्थ प्रसन्नता है। ऐसी प्रसन्नता जो हर्ष-विषाद में एक रस बनी रहती है। कठिन से कठिन दुःख में भी जिस पर उदासी की छाया नहीं पड़ती। जिसके अन्तर में प्रसन्नता का संगीत छिड़ा रहता है उस समय बाहरी सुख-दुःखों का प्रभाव नहीं पड़ता।

उपनिषद् कहती है कि—

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न,
बिभेति कुतश्चनेति।

ब्रह्म आनन्दमय है। आनन्दरूप ब्रह्म को जान लेने वाला कभी किसी प्रकार के दुःखों से भयभीत नहीं होता। सदा प्रसन्न रहना मानसिक तप है। प्रसन्नता के अभाव में व्याकुलता, अशान्ति एवं घबड़ाहट रहती है। प्रसन्नता से शान्ति और स्थिरता आती है। प्रसन्नता में बुद्धि को कोई क्लेश, अभाव, राग-द्वेष अथवा विकार अशान्त नहीं कर पाते। प्रसन्न चित्त वाला सदा आनन्द के समुद्र में हिलोरें लेती है। कठिन से कठिन संकट में भी उसके मुख पर मुस्कराहट खेलती है। वह अपनी प्रसन्नता से दूसरों के हृदयों के जमे हुए मैल को धो देता है।

एक वकील साहब थे उनकी स्त्री थी। किसी दिन वकील साहब पत्नी पर नाराज हो गये और कुछ अपशब्द कह गये। पत्नी भी तेज तर्रार थी। उसने भी दो-चार कड़ु वचन बोल दिये। बस फिर क्या था, एक-दूसरे के साथ बोलना बन्द हो गया। वकील साहब का भोजन उनके कमरे में आ जाता और वे वहीं खाकर कचहरी चले जाते। वापस आते तो बाहर कमरे में बैठकर समय बिताते। कई दिन इस प्रकार बीत गये। एक दिन वकील साहब के मन में विचार आया कि यह क्या मुसीबत है। एक ही घर में हम रहते हैं। वह पत्नी है, मैं पति हूँ। हम आपस में बोलते नहीं हैं। पत्नी के

मन में भी यही विचार आया, परन्तु पहल कौन करे ?

वकील साहब का एक आठ वर्ष का लड़का था। वह बड़ा ही हँसोड़ व प्रसन्न चित्त था। वह किसी कीर्तन में गया था और वहाँ से एक गाना सीख आया जिसकी पहली पंक्ति थी :—

मुख से कड़वे बोल न बोल।

एक दिन वकील साहब कचहरी से आये तो उनका लड़का उनके कमरे में आ पहुँचा और वहीं बैठकर गाने लगा—

मुख से कड़वे बोल न बोल।

वकील साहब ने सुना तो बोले—देख बेटा! यहाँ नहीं, अपनी माँ के कमरे में जाकर गा।

बच्चा वहाँ से माँ के कमरे में पहुँचा और एक ओर बैठकर गाने लगा—

मुख से कड़वे बोल न बोल।

माँ ने यह बात सुनी तो मुस्करा उठी और बोली—देख बच्चे यह बात अपने पिताजी से जाकर कह। बच्चा वहाँ से हँसता हुआ उठा और अपने पिताजी के कमरे में जाकर गाने लगा—

मुख से कड़वे बोल न बोल।

वकील साहब ने कहा—अरे तू फिर आ गया। तुझे कहा कि अपनी माँ के कमरे में जाकर गा। बच्चे ने हँसते हुए कहा कि बड़ी मुसीबत है। माँ के कमरे में जाता हूँ तो वे कहती हैं कि पिताजी के कमरे में जाकर यह गीत गा और आपके कमरे में गाता हूँ तो आप कहते हैं कि माँ के कमरे में जाकर गा। मैं अब किसी के कमरे में नहीं जाऊँगा। दोनों कमरों के बीच में बैठकर गाऊँगा।

मुख से कड़वे बोल न बोल।

माँ अपने कमरे के द्वार पर खड़ी थी और पिताजी अपने कमरे के द्वार पर। दोनों इस गीत को सुनकर हँस पड़े। दोनों के मन का मैल कट गया। दोनों में मिलाप हो गया। यह है—प्रसन्नता का जादू। प्रसन्न चित्त लड़के ने अपने माता-पिता के मन के मैल को हँसते हुए गीत गाकर दूर कर दिया।

प्रसन्नता का मूल्यांकन नहीं हो सकता है। यह बाजार में भी नहीं मिलता है। यह अपने अन्दर से उठने वाली वस्तु है। यदि आप प्रसन्नता प्राप्त करना चाहते हैं तो बाल-मचलन क्रिया कीजिए और आपका हृदय आह्लाद से भर जायेगा।

★ किसी से तुम द्वेष न करो, किसी को शत्रु न बनाओ, और जब कभी दो शत्रु तुम्हारे सम्पर्क में आवें, तब उनमें मित्रता जाग्रत करने की चेष्टा करो; विरोध की मात्रा न बढ़ाओ।

—साधुवेश में एक पथिक

□ आचार्य श्री तारिणीश

यत्न पूर्वक चरित्र की रक्षा करिए

इस शीर्षक से सम्बन्धित श्लोक इस प्रकार है—

वृत्त यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥
(महा. 5।36।30)

चरित्र की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये, धन तो आता-जाता रहता है। धन के नष्ट होने पर भी सदाचारी मनुष्य का नाश नहीं होता, किन्तु चरित्र के नष्ट होने से मनुष्य का पूरा विनाश ही समझना चाहिये।' उक्त श्लोक का ही भाव लेकर अंग्रेजी में रचा गया एक वाक्य बहुत ही तथ्यपूर्ण एवं सबके लिए परमोपादेय है जिसका आशय है—'जब धन नष्ट हो गया तो समझिये कि कुछ नष्ट नहीं हुआ, जब स्वास्थ्य नष्ट हुआ तो समझिये कि कुछ नष्ट हो गया है और जब चरित्र नष्ट हो गया तो समझिये कि सब कुछ नष्ट हो गया।' आज अपने देश में क्या, संसार में ही चरित्र का महान् पतन हो गया। इसी से छल-छद्म, चोरी-बेईमानी, घूसखोरी, अनाचार, व्यभिचार, हत्या, दुःख दारिद्रय आदि सभी संकटों से मानव-समाज त्रस्त है। अपने ही देश को लीजिये, जब तक यहाँ चरित्र का प्राबल्य था, तब तक दही, दूध, घी आदि की अतिशय अधिकता के कारण इन्हें कोई पूछता न था। आज ये ही वस्तुएँ मानव-समाज के लिए दुर्लभ होती जा रही हैं। अपने यहां चारित्रिक शिक्षा का डिण्डिमघोष इन शब्दों में किया गया है—

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः॥
(हितोपदेश 1/14)

'दूसरे की स्त्री को माता के समान देखो, दूसरे के धन को मिट्टी के समान समझो और समस्त प्राणियों को अपने आत्मा के समान मानो। जो ऐसा देखता है, वह (वास्तविक) पण्डित है।'

आज यदि एकमात्र उक्त श्लोक की शिक्षा को मानव-समाज अपना ले तो धरती पर स्वर्ग उतर आये। पहले अपने देश में अधिकतर लोग उक्त शिक्षा का अनुसरण करते थे। इसके अनेक प्रमाण शास्त्र-पुराणों में मिलते हैं। 'शंख लिखित' नाम की तीन स्मृतियाँ मिलती हैं। इनके प्रणेता के विषय में कहा जाता है कि शंख और लिखित दोनों सहोदर भाई अलग-अलग रहने लगे थे। एक बार लिखित अपने बड़े भाई शंख से मिलने के लिए उनके आश्रम पर गये। उस समय शंख वहाँ उपस्थित नहीं थे। उनके आश्रम में एक आम का पेड़ था, जिससे एक पका आम नीचे गिरा हुआ था। उस फल को लिखित ने उठाकर अपने पास रख लिया। कुछ देर बाद शंख भी आ गये। उन्होंने

लिखित से पूछा—'यह आम तुम्हें कहाँ मिला।' लिखित ने बताया—'यह तो आपके ही वृक्ष से गिरा हुआ था, मैंने उठा लिया।' इस पर शंख बोले—'तब तो तुमने चोरी की। किसी वस्तु को उसके स्वामी की अनुमति के बिना उठा लेना चोरी है। इसका प्रायश्चित करो।' उन दिनों चोरी का दण्ड था, हाथ काट लेना। किन्तु दण्ड उस देश का शासक ही दे सकता था। अतएव लिखित को राजा सुद्युम्न के पास जाना पड़ा। वहाँ से हाथ कटवाकर वे भाई के पास लौट आये। भाई ने उनसे बबला नदी में स्नान कराकर शेष प्रायश्चित-हेतु पितरों का तर्पण करने के लिए कहा। उन्होंने कहा—'अब मैं किस हाथ से तर्पण करूँ।' भाई के तपोबल तथा बबला की कृपा से उन्हें नवीन हाथ प्राप्त हुए और उन्होंने तर्पण किया। इस घटना से नदी का नाम 'बाहुदा' हुआ। यह राप्ती की सहायक बबला नाम से अब भी प्रसिद्ध है। (महाभा. 12/23)

इसी तरह अर्जुन जब इन्द्र से मिलने के लिए स्वर्ग गये थे, तब वहाँ स्वर्ग की परम सुन्दरी वेश्या उर्वशी उन पर कामासक्त होकर एकान्त में उनके पास गयी और उसने अपनी कामेच्छा प्रकट की। किन्तु साधुचरित एवं इन्द्रियसंयमी अर्जुन ने उसे 'माँ' कहकर लौटा दिया। इस पर उर्वशी ने उन्हें शाप दे दिया, जिसे उन्होंने स्वीकार किया, पर अपने चरित्र को नहीं डिगाया। चरित्र निर्माण का यह एक आदर्श उदाहरण है।

वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास आदि ग्रन्थों में उक्त प्रकार के चारित्रिक निदर्शन भरे पड़े हैं। किन्तु उन्हीं महापुरुषों के वंशज हम भारतीय आये दिन चरित्रिक पतन के गड्ढे में गिरते जा रहे हैं। यह बहुत ही दुःखद की एवं चिन्तनीय बात है। अब भी समय है, यदि हम निम्नलिखित शास्त्राज्ञा के पालन में दत्तचित्त हो जायँ तो हमारा कल्याण सुनिश्चित है—

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किं नु मे पशुभिस्तुल्यं किं नु सत्पुरुषैरिव॥
(लाङ्घ्यरपद्धति 14/1)

मनुष्य को प्रतिदिन अपने चरित्र को टटोलना चाहिये कि क्या हमने आज पशुओं के समान आचरण किया या सत्पुरुषों के समान? हमें क्या-क्या करना चाहिये?'

मनुष्य और पशु में आहार, निद्रा, भय, मैथुन में सब समान है, मनुष्य में केवल ज्ञान विवेक एवं चरित्र की विशेषता है। 'सर्वान् अविशेषेण पश्यति इति पशुः' अर्थात् जो माँ, बहन, स्त्री आदि सबको एक ही दृष्टि से देखे, वह पशु है। मनुष्य पशु से भिन्न है, क्योंकि मनुष्य में विवेक रहता है। वह विवेक की दृष्टि से माँ, बहन, स्त्री आदि को यथायोग्य देखता है। वह विवेक जिस मनुष्य में जितनी अधिक मात्रा में रहेगा, वह उतना ही उच्च मानव कहलायेगा। इसलिये मानव को प्रतिदिन अपने कर्तव्य और अकर्तव्य का विवेचन करना चाहिये। उत्तम आचरण कर्तव्य है और दूषित आचरण अकर्तव्य है। कर्तव्य कर्म पर दृढ़ रहना सच्चरित्रता है और गर्हित आचरण करना दुश्चरित्रता है। इसलिये जो अपना कल्याण चाहता है, उसे सच्चरित्रता को अपनाना चाहिये और दुश्चरित्रता को त्यागना चाहिये। सच्चरित्र बनाने की यही प्रक्रिया है।

● श्री ओमप्रकाश पालीवाल

मोह को तजो, मोहन को भजो !

मोह क्या है ? और क्यों होता है ? इस पर विचार करने से पता चलता है कि मोह तम है अन्धकार है, और अन्धकार ज्ञान के प्रकाश के न होने पर ही होता है। इस प्रकार अज्ञान ही अन्धकार है। मनुष्य के आस-पास कौन-सा अन्धकार है ? एक तो वह अन्धकार है, जो दीपों के जलाने से, बिजली के प्रकाश से मिट जाता है। लेकिन धार्मिक जगत् में इस अन्धकार का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके होने या न होने से कोई फर्क नहीं पड़ता। हमारा आशय है यहां उस अन्धकार से जो मनुष्य के शरीर को नहीं घेरता, वरन् मनुष्य की चेतना को भी घेर लेता है, यह अन्धकार मनुष्य की आत्मा के चारों तरफ फैल जाता है। इसे मोह रूपी कालिमा भी कहा जाता है।

अन्धकार का पहला लक्षण है कि जहां दिखाई नहीं पड़ता, जहां देखना सम्भव नहीं हो पाता। दूसरा लक्षण दिखाई न पड़ने से कोई मार्ग मालूम नहीं पड़ता कि कहां जायें क्या करें। तीसरा लक्षण जहां दिखाई न पड़ने से प्रतिपल किसी भी चीज से टकरा जाने की सम्भावना हो जाती है। चौथा लक्षण अन्धकार के कारण कुछ का कुछ अर्थात् रस्सी सर्प जैसी दिखाई पड़ती है। अन्धकारमें आंखें होते हुए भी हमें दिखाई नहीं पड़ता। प्रकाश के संयोग से ही आंखें देखती हैं। मोह में अज्ञान में भी ऐसा ही घटित होता है। इसलिए मोह को अन्धकार कहने की सार्थकता है। मोह में जो हम करते हैं, मोह में जो हम होते हैं, मोह में हम कैसे चलते हैं मोह में जो भी हमसे निकलता है, वह ठीक ऐसा ही है जैसे अंधेरे में कोई टटोलता हो। कुछ नहीं पता होता कि क्या कर रहे हैं। नहीं कुछ पता होता कि क्या हो रहा है, नहीं कुछ पता होता कि क्या सत्य है, क्या झूठ है, नहीं पता होता कि कौन-सा मार्ग है। आंखें नहीं होती हैं। इसलिए मोह अन्धकार होता है, मोह अन्धा कर देता है, और मोह का अन्धापन आध्यात्मिक अन्धापन है।

यह मोह ही हम सबके जीवन का दुःख है, शोक-सन्ताप है। यह मोह ही हमें रुलाता है, दुःख देता है।

यह मोह ही हमें भटकाता है, अटकाता है, गिराता है। इसीलिए तुलसीदास जी ने मोह को समस्त व्याधियों का मूल बताया है, यथा :

"मोह सकल व्याधिन कर मूला।
जाते उपजत हैं बहु शूला" ॥

मोह के भीतरी रहस्य में एक गुण है। और वह यह है कि जो 'मैं' नहीं हूँ, जो 'मेरा' नहीं है वह 'मैं' और 'मेरा' मालूम होता है। और जो 'मैं' हूँ, जो मेरा है वह मेरा नहीं मालूम होता। मोह अन्धकार में सब उल्टा—कुछ का कुछ दीखने लगता है। हमारा मोह एक सम्मोहन का जाल फैला लेता है। 'मेरा शरीर' मेरी पत्नी, मेरा बेटा, मेरा मकान, आदि-आदि। हम सभी इस प्रकार अपने मैं के आस-पास एक मोह-माया का बड़ा-सा जंजाल खड़ा कर लेते हैं, मेरे का। यह जो 'मैं' का फैलाव है, वही तो मोह का अन्धकार है।

असल में 'मैं' जो है, उसे ठीक ऐसा समझें कि वह अंधेरे का दीया हो। जैसे दिये से प्रकाश गिरता है, ऐसे ही 'मैं' से अन्धकार गिरता है। जैसे दिया जलता है तो प्रकाश हो जाता है, ऐसे ही 'मैं' जलता है, तो अन्धकार हो जाता है, जितना सघन 'मैं' उतना घना अन्धकार चारों तरफ फैलता चला जाता है। जो व्यक्ति 'मैं' के अहंकार में जीता है वह अन्धकार में जीता है। मोह ऐसा है जिससे अहंकार पैदा होता है।

हमारा मोह देह से, मकान से, धन से होता है, लेकिन इनको किसी का भी मोह हमसे नहीं होता। हमें अपने और अपनों के दुर्गुण दोष, मोह के कारण दिखाई नहीं देते। दोष भी गुण दीखते हैं, जो मेरे नहीं हैं उनके दोष दीखते हैं। लेकिन 'मेरे' की वजह से दिखाई नहीं पड़ता। यह 'मेरा' अन्धकार देता है यह 'मेरा' अन्धकार है। किसी भी तरह के 'मेरे' का भाव मोह की निशा है। इसके प्रति जागना है। 'मैं' जो है, बड़ी, सृजनात्मक शक्ति है। पर वह व्यर्थ विकल्पों को नहीं स्वप्न का सृजन करती है—यह हमारा 'मैं' जहाँ भी खड़ा हो जाता है वहाँ एक संसार बन जाता है। सत्य तो यह है कि 'मेरे' के कारण ही संसार है जिस दिन 'मेरा' नहीं है, उस दिन संसार कहीं भी नहीं है। 'मेरे' के कारण ही गृह है, गृहस्थी है। जिस दिन 'मेरा' नहीं है, उस दिन कहीं कोई गृह नहीं है, कोई गृहस्थी नहीं है। तुलसीदास ने 'मैं' और 'मोर' तोर तें माया' कहा है। जीव का शुद्ध 'मैं' ब्रह्म है, और जीव का अशुद्ध 'मैं' माया है। जीव प्रकृति के शरीर को 'मैं' कहता है और संसारी प्राकृत वस्तुओं को मेरा कहता है। यह 'मेरा' 'मैं' का ही विस्तार है, माया है, स्वप्न है। सारा संसार इसी मोह-निशा में सो रहा है, और मोही व्यक्ति का यही 'मोह' माया का स्वप्नवत् संसार है।

संसार का प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के गुणों से मोहित हुआ पशु की तरह बँधा हुआ खिंचता है जैसे गाय के गले में बंधी हुई रस्सी से गाय को खींचा जाता है उसी प्रकार प्रकृति के गुणों का आकर्षण रस्सी का काम करता है। एक स्त्री का, पुरुष का सुन्दर चेहरा मोहित करता है, आकर्षित करता है एक-दूसरे को अपनी तरफ खींचता है। स्त्री सुन्दर मालूम होती है क्योंकि यह सौन्दर्य के प्रति आकर्षण मोहग्रस्त प्रकृति के द्वारा डाला गया मोह है। यह वासना का बीज वासना की रस्सी प्रकृति के द्वारा डाली गयी है वही काम करता है, तब स्त्री-पुरुष आपस में एक-दूसरे पर मोहित होकर जुड़ते हैं। और इसी प्रकार मनुष्य अन्य सुन्दर चीजों से आकर्षित मोहित होकर अन्य चीजों से जुड़ते हैं। प्रकृति के गुणों से मोहित है जीव। प्रकृति के गुण को न समझने से मनुष्य अज्ञान में, मोह में आसक्ति से दुःख में,

बन्धन में पड़ जाता है। प्रकृति के रंग, रूप मोहित करते हैं प्रकृति का रस, स्वर्ण तथा शब्द मोहित करते हैं। यह पंचभूत प्रकृति का रूप, रस, गन्ध शब्द, स्पर्श का मोह जाल है। इसके अतिरिक्त सत्व, रज और तम प्रकृति के तीन गुणों का आकर्षण है इन्हीं सबके वशीभूत होकर जीव इन्हें प्राप्त करने के लिए कर्मरत होता है, तथा प्राप्त करने पर इन्हें 'मेरा' मानकर इसके बन्धन में बँध जाता है। और तब प्रकृति उसे मदारी के बँधे बन्दर की तरह नाच नचाती है। प्रकृति में गुण हैं और मनुष्य उनसे मोहित होकर जीता है। मोह वही उसे अंधेरे में घेरे रखता है और वही मोह उसे अंधेरे में धक्का दिये चला जाता है। सम्मोहन सपने का उद्भावक है मोह ग्रस्त चित्त ही कल्पनाओं में, सपनों में, आकांक्षाओं में महत्वाकांक्षाओं में भटकाता है।

माया के दो रूप हैं, योग-दर्शन के अनुसार स्वर्ग और अपवर्ग, बन्धन और मुक्ति। राग, और विराग, मोह और त्याग। काया भी माया है; काया में जो जीव फँस गया अपने देह के रूप पर जो मोहित हो गया, लुभा गया, काया के रूप के ऊपर जा फँसा। हरि की माया अज्ञानी को मोह से ग्रसित कर हरि के मार्ग से भटका देती है। और यही हरि की माया ज्ञानी को अपना वास्तविक रूप दिखाकर हरि से मिला देती है। माया हरि की तुम्हें सुलाती भी है, अचेतन भी करती है और यही हरि की माया तुम्हें सोते से जगाने का भी उपाय बताता है। यों माया तुम्हें चेताने का उपाय है। शायद सीधे-सीधे हरि तक तुम जा भी नहीं सकते। पहले तो पड़ोगे किसी सुन्दर स्त्री के रूप पर मोहित होकर उसके चक्कर में। स्त्री के मोह में जितने तुम मोहित होगे उतने ही उसके द्वारा सताये भी जाओगे।

परमात्मा की बात को जो सीधे-सीधे नहीं मानते तो परमात्मा की माया तुम्हें सताती है तब ही वे परमात्मा की बात को मानते हैं। गीता में जगदात्मा श्रीकृष्ण ने कहा है :

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
गीता अ. 7/14

अर्थात्—यह अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, मेरी शरणागत हो जाते हैं वे इस माया को उल्लंघन कर जाते हैं। अर्थात् संसार से तर जाते हैं। और भी कहा है :

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः॥

अगर तुम मेरी शरणागत होने की बात को नहीं मानोगे तो मेरी माया मुझ तक तुम्हें नाच नचाती हुई लायेगी। अगर सीधे-साधे नहीं मानोगे, मेरी बात तो मेरी माया तुम्हें भटकायेगी, सतायेगी, दुःख देगी। अगर तुम मेरे संसार को, माया को, स्त्री को, अपने शरीर को, मेरा अनुदान आत्मा को परमात्मा न मानोगे तो। ईशावास्य उपनिषद में कहा है 'इस संसार में सभी कुछ परमात्मा का है, किंचित मात्र भी किसी का कुछ भी नहीं है। मेरी वस्तु को मेरा मानकर उपयोग करो।' अगर मेरे संसार से तुम 'मैं' मेरी करके अपना सम्बन्ध जोड़ोगे तो सम्बन्ध टूटेंगे शरीर छूटेगा तो इनसे मोह आसक्ति के कारण रोओगे, दुखी होगे रोग ग्रस्त होगे हजार-हजार पीड़ाओं से भरोगे। माया की यातनाओं को झेलकर मानोगे सीधे गीता,

के उपदेशों को नहीं मानकर मोह-ममता को नहीं त्यागोगे, जागोगे तो पिटकर जागोगे। तो इस प्रकार भगवान की माया जीव को फंसाती भी है और मुक्त भी करती है। यह बन्धन भी करती है और मुक्ति भी करती है। भगवान कहते हैं कि "मेरी इस मोह मयी माया को हर किसी ने अपनी समझा है, माना है वह मेरी-मेरी करता रहता है। अरे वह तो एकमात्र मेरी है लेकिन वह अधिक जनों के मन की विलासिनी बनी हुई है। लेकिन जो जान जाते हैं कि यह हरि की माया है, लीला है, खेल है। यह माया परमात्मा की छाया है। वे मायावी प्रपंच-यातना से बच जाते हैं।

जगत-आत्मा-परमात्मा श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण गीता में अर्जुन को निमित्त बनाकर भगवान ने समस्त मानव-जाति को मोह-ममता तथा अहंकार त्यागने की ही शिक्षा दी है। परमात्मा को अपना अहंकार समर्पण की आज्ञा दी है। क्योंकि हमारा अहंकार भी एक झूठ है जो हमने अपने भीतर पाल रखा है। हम इसे सच मानकर ही चल रहे हैं इसलिए यह ऐसा ही हो गया है। हमारे लिए भी सत्य ही हो गया है, अब तुम किसी सद्गुरु के पास पहुँचोगे तो वह तुम्हें कहेंगे कि छोड़ दो यह अहंकार क्योंकि यही बाधा है तुम्हारे और परमात्मा के बीच। यह मिट जाए तो सेतु बन जाये, यह जब तक है तब तक परमात्मा नहीं है। इसलिए श्रीकृष्ण ने कहा "मामेक शरणं व्रज:" अर्जुन! तू एक मात्र मेरी शरण आजा, किसी और की शरण मत चले जाना।' श्रीकृष्ण भगवान यही कह रहे हैं कि तुमने जिस अहंकार को सत्य मान रखा है, उसे तू मुझे दे दे, मैं उसे ले लेता हूँ क्योंकि वह मेरा ही तो अंश है तूने उसे अपना अहं 'मैं' या आपा मान लिया है। तू इसी को 'मैं' मानकर जो रहा है कि अहंकार ही मेरा सर्वस्व है वही तो मैं हूँ; अहंकार तो मेरी आत्मा-प्राण है। इसे तो तुम किसी सद्गुरु के प्रेम में ही शायद छोड़ पाओ तो छोड़ पाओ। वह भी (शायद)! क्योंकि अर्जुन ने भी 'मैं' 'मेरे' को अर्थात् अहंकार और मोह को बचाने की चेष्टा की, बचाव किया, हजार तर्क खोजे, हजार बहाने बताए—यह भी शर्त पूरी करने को कहा कि पहले मुझे अपना विराट रूप तो दिखाओ। 'मैं' यह तो प्रथम जान लूं कि तुम परमात्मा हो भी कि नहीं। अर्जुन की कोशिश एक ही थी कि कैसे सौंपू, छोड़ूं अपना अहंकार, अपना मन, इनके चरणों में। पहले मुझे आश्वस्त तो करो कि यही हैं वे चरण, वह शरण जिनमें मैं अपने अहंकार को समर्पित करूँ। पूरी गीता में अर्जुन अपने अहंकार को 'मैं' 'मेरे' को बचाने की चेष्टा कर रहा है और श्रीकृष्ण उसके अहंकार को मिटाने की चेष्टा कर रहे हैं।

श्री कृष्ण जानते हैं कि अहंकार झूठा है माना हुआ है; सिर्फ 'मैं' परमात्मा ही है। गुरु देव शिष्य के मिथ्या अहं को लेकर प्रथम तो अपने अहं को मात्र अवलम्ब के लिए देते हैं गुरुदेव तो निमित्त मात्र होते हैं लेकिन वह अपने माध्यम से उस परमात्मा को ही देते हैं। अगर गुरु को भी अपने गुरु होने का अहंकार हो जाता है तो अभी वह गुरु है ही नहीं शिष्य ही है जो अपने को गुरु मान हुए है। गुरु तो एकमात्र वही है, जिसे इस बात की प्रत्यक्ष अनुभूति हो गई है कि मैं नहीं हूँ, केवल मात्र परमात्मा ही है। 'मैं' नहीं हूँ केवल परमात्मा हो जैसा गुरुदेव को अनुभव हुआ है भगवत्ता

का वैसे ही वे अपने शिष्यों को भी अनुभूति कराना चाहते हैं। गुरुदेव को शिष्य के मिथ्या अहं को छुड़ाने का मिटाने का उपाय करना होता है। दूसरे शिष्य के मायावी मन को भी गुरुदेव को लेना होता है। गीता में कहा भी है—'मन मना भव'

अर्थात्, हे अर्जुन तू अपने मन को मेरे मन में मिला दे। गुरुदेव कहते हैं कि तुम अपने अहंकार और मन को मुझे दे दो 'मैं तुम्हारे क्षुद्र अहंकार को—क्षुद्र 'मैं' को वृहद् व्यापक बना दूंगा, यह जिस सागर की बूंद है अंश है उसी में मिला दूंगा। सद्गुरुओं की सारी चेष्टा यही होती है कि शिष्यों में श्रद्धा विश्वास जगे प्रेम उमगे, इतनी श्रद्धा, इतना प्रेम इतना विश्वास कि वे अपने इस मिथ्या अहंकार को, जो उनका प्राणों से भी प्यारा है। उसे अपने गुरुदेव के चरणों में सहर्ष रख दें। और अहंकार को समर्पित करते ही रहस्य खुल जाता है। क्योंकि अहंकार छूटा कि हमें अपने 'अहं ब्रह्मास्मि' होने का पता चल जाता है। अपने अहंकार को अपने मन, अपनी बुद्धि को गुरुदेव भगवान के चरणों में अर्पण करने से हम शून्य हो जाते हैं। और ऐसा करने से हम उसको पा जाते हैं, वही हो जाते हैं जिसको हम अर्पण करते हैं। भगवान ने गीता में कहा भी है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
(गीता 18/65)

अर्थात्—हे अर्जुन! तू मुझमें मन वाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करने वाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करने से तू मुझे ही प्राप्त होगा। यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है लेकिन हम शिष्य लोग गुरुओं की पूजा, आरती, तो करते रहते हैं वाह्य गुरु भक्ति करते रहते हैं। अपने अहंकार को, अपने मन को बुद्धि को तथा तन को अर्पण श्री गुरु चरणों में नहीं करते। फल-फूल ही चढ़ाते रहते हैं। मन चढ़ गया उनके चरणों में तभी पूजा पूर्ण होती है। लेकिन देखने में इसके विपरीत ही आता है अहंकार शिष्यों का मिटता नहीं गुरुओं के विरोध में शिष्यों का अहंकार गुरुओं से भी बड़ा हो जाता है। शिष्यों का मन भरता नहीं गुरुओं के मन के अनुसार न चलकर शिष्य लोग गुरुओं को अपने मन के अनुसार चलाने लगते हैं। गुरुदेव के चरणों में सिर रखकर प्रणाम करना मात्र औपचारिकता नहीं है। उसका अर्थ है श्रद्धा-भाव से उनके चरणों में अहंकार का विसर्जन करना, जिसके चरणों में तुम अपने अहंकार को चढ़ा देते हो वही तुम्हारा गुरु होता है जिसे तुम अपना मन दे देते हो वही गुरु होता है। गुरु का अर्थ है जिससे महा-मोह तम, अज्ञान अन्धकार मिट जाय, गुरु का अर्थ ही है जो हमारे अहंकार को मिटा दे मन के मोह ने ही हमें शरीर और संसार से बांध रखा है। शरीर का मोह शरीर की ममता, घर का मोह, घरवाली का मोह माँ, बाप, बच्चों का मोह, धन सम्पत्ति का मोह आदि हमारे चारों तरफ मोह और ममता की पलटन हमें बाँधे हुए है। मन महा मोहक मायावी है आकर्षण प्रलोभन, इच्छा, इसी के कारण होती है। मन और अहंकार दोनों ही माया के मोहक नाते हैं। माया के पति स्वामी केवल मात्र गुरु भगवान ही हैं बाकी तो सब माया के दास हैं। "यीयते शिव सामुज्यं क्रीयते पाशबन्धनम्।" जो मोह माया के बन्धन काट कर शिव रूप बना

देता है उसी को गुरु कहा है। हम सबको 'मैं' अहं अपना लगता है। तब मन भी अपना लगता है अज्ञानता के कारण और जीवन भर इन्हीं को मिटाने से बचाते हैं। और यही 'मैं' यही 'मन' हमें भगवान की शरण में नहीं जाने देता। भगवान ने गीता में बताया है कि 'हे अर्जुन! संसार में जिससे जीव जीते हैं वह मैं हूँ, अर्थात् 'मैं' जीवित व्यक्तियों का जीवन मैं हूँ। जीव धारियों का जीवन (आत्मा) हूँ और जीव धारियों का शरीर मेरी प्रकृति, माया है। गीता में परमात्मा श्री कृष्ण ने स्पष्ट रूप से कहा है—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥
(गीता 10/20)

अर्थात्—हे अर्जुन! मैं सब भूतों के हृदय में स्थित सबका आत्मा तथा सम्पूर्ण भूतों का आदि मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ। और आगे कहा है "इन्द्रियाणां मनश्चास्मि" इन्द्रियों में 'मैं' मन हूँ। इसलिए 'मैं और मोर मूढ़ता त्यागूँ।

महा मोहनिश सोवत जागूँ॥

'मैं और मेरे की मूढ़ता को त्याग कर मोह नींद से जागे।

श्री कृष्ण अर्जुन को निमित्त बनाकर संसार के समस्त अहंकारी मोह माया में फँसे जीवों को यही कह रहे हैं कि सब कुछ मैं ही हूँ इसलिए तुम मुझको ही भजो। मेरी शरण में आजाओ। श्री कृष्ण की सारी चेष्टा, 'मैं' पर इसलिए है कि अर्जुन रूपी सभी जीव देख पायें कि उनके भीतर जो 'मैं' है वह आत्मा मैं ही हूँ। लेकिन अज्ञानतावश अर्जुन को ऐसा लगता है कि कृष्ण मेरे 'मैं' को मिटाकर उसकी जगह अपना 'मैं' खड़ा कर रहे हैं। ताकि मेरी 'मैं' उनके बड़े 'मैं' में विलय हो जाय। लेकिन श्री कृष्ण अर्जुन के क्षुद्र अहं 'मैं' को छीनकर अपने विराट् 'मैं' को दे रहे हैं ताकि 'ये' बूंद की तरह उस विराट् 'मैं' के सागर में खो जाय। क्योंकि वह क्षुद्र बूंद उसी विराट् सागर का क्षुद्र अंश है। इसलिए ज्ञानी वेदान्ती कहते हैं 'अहं ब्रह्मास्मि' यह हमारा 'अहं' 'मैं' ब्रह्म है मैं नहीं हूँ। भक्त भी अपने मैं को अपने भगवान में लय कर दिया है कि मैं कुछ ही जो कुछ है वह परमात्मा ही है। लेकिन घोर अज्ञानी मूढ़ अभिमानी ही अपने मैं को बड़ा करता रहता है और कहता है कि मैं जो कुछ हूँ वह मैं हूँ। भगवान है ही नहीं। और यह संसार मेरा है। इसी कारण से वह दारुण दुःख पाते हैं।

कबिरा नौबति आपनी, दिन दस लेहु बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली, बहुरि न देखहु आय॥

—कबीर

□ श्री स्वामी वीरेश्वरानन्द (पूर्व नाम श्री महावीर भाई)

धर्म-युद्ध का उद्‌बोधन

भौतिक और बौद्धिक दृष्टि से पूरी मनुष्य जाति आज दो भागों में बँटी हुई है। एक ओर अस्सी फीसदी भावना प्रधान आस्तिक दुनिया है और दूसरी ओर बीस फीसदी विज्ञान-शक्ति से सम्पन्न बौद्धिक दुनिया है। यह बौद्धिक जगत् (विशेष रूप से श्वेत जातियों के रूप में अपनी कठपुतली अश्वेत पूंजीवादी सरकारों के द्वारा) अस्सी फीसदी पिछड़े हुए अश्वेत जातियों का सभी प्रकार से शोषण दोहन और दमन कर रहा है। इस व्यवस्था के खिलाफ जो कुछ वैज्ञानिक क्रान्तिकारी शक्तियाँ इनसे लड़ने का प्रयास कर रही हैं वे दुर्भाग्य से अस्सी फीसदी आस्थावान् दुनिया को अपने साथ नहीं ला पा रही हैं।

अब समय आ गया है कि वे शक्तियाँ जो इस दुनिया को बदलना चाहती हैं और जिनका विश्वास जनता की जनशक्ति में है वे जन-भावना जनबुद्धि को जागृत और संगठित करने के लिए जनभाषा की खोज करें। क्योंकि जब तक क्रान्तिकारी-भावना से निम्न वर्ग, निम्न जातियों का एका नहीं होगा तब तक उनकी लड़ाई की शुरूआत भी नहीं हो सकती। यह सब भारत के आधुनिक ईमानदार क्रान्तिकारियों के सोचने, समझने का विषय है। क्योंकि उनके अन्दर परिवर्तन की तीव्र आकांक्षा होती है। लेकिन जब तक परिवर्तन की आवश्यकता वाली जनशक्ति उनके साथ नहीं जुड़ती तब तक क्रान्ति नहीं होगी। इसलिए जागतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए भारत के क्रान्तिकारियों को क्रान्तिनिष्ठ भावनात्मक जनशक्ति को संगठित करना होगा। इसलिए देश में बिखरी व्यवस्था-परिवर्तन को मानने वाली सभी शक्तियों (जिनमें नक्सलपंथियों से लेकर सभी साम्यवादी और समाजवादी शक्तियों को क्रान्तिनिष्ठ, सत्यनिष्ठ, धार्मिक भावात्मक शक्तियों) को संगठित करने का प्रयास करना होगा।

मेरा विश्वास है कि उपर्युक्त सभी सत्यनिष्ठ शक्तियाँ परिस्थिति को सही परिप्रेक्ष्य में देखेंगी और सम्पूर्ण क्रान्ति अथवा युग-परिवर्तन (धर्म-स्थापना) हेतु मिलकर काम करेंगी। इन शक्तियों को इकट्ठा करने के लिए ही एक ओर यज्ञ, सत्संग, कीर्तन, कथा आदि का आधार बनाना होगा और दूसरी ओर वैज्ञानिक क्रान्ति के लिए बौद्धिक शक्ति द्वारा जनचेतना, जनशक्ति के निर्माण के लिए जन-सम्मेलनों, महिला-सम्मेलनों, तरुण-सम्मेलनों किसान-सम्मेलनों को आधार बनाया जायेगा। क्रान्तिकारी परिवर्तन की शक्ति और धर्म-चेतना की शक्तियों को संगठित निहित स्वार्थों ने षड्यन्त्र करके आपस में लड़ाया है। इन्होंने धर्म-निष्ठा को पाखंड और क्रान्तिकारी शक्ति को विधर्मी तत्व कहकर अपना काम बनाया है लेकिन अब समय आ गया है जब धर्म-चेतना-मंच व्यवस्था परिवर्तन, धर्म-स्थापना हेतु एक-दूसरे के साथ मिलकर वर्तमान विषमता मूलक शोषण, दमन की राक्षसी, पापी पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध एकजुट होकर धर्मयुद्ध का उद्‌बोधन करेगा। □

दो गद्य गीत :—

जीवन-साफल्य

हे ईश्वर, मेरी तुममें आस्था है, विश्वास है, परन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि तुम क्या हो, तुम्हारी व्याख्या क्या है। इतना जानता हूँ कि तुम अनन्त हो। अनन्त शक्ति के रूप में ही तुम्हें मैं देखता हूँ। व्याख्या होती है सीमा वाले की, आकार वाले की। असीम और निराकार की व्याख्या क्या ?

हे ईश्वर, लोग तुम्हारी पूजा करते हैं, उपासना और आराधना करते हैं। कुछ लोग कहते हैं—कर्म ही प्रार्थना है। दूसरे कहते हैं—मानव सेवा ही ईश्वर सेवा है, वही पूजा है। वही प्रार्थना है।

हे ईश्वर, मेरी प्रार्थना है मेरा रचनात्मक कार्य। यही मेरे जीवन का सारतत्व है मेरी प्रार्थना है, मेरी समस्याओं का समाधान। मेरी प्रार्थना है, गरीबी का अन्त और युद्ध का अन्त।

हे ईश्वर, मेरी उपरोक्त प्रार्थना को स्वीकार करो। जीवन साफल्य के लिए मेरा आप से साहस निश्चय और आशा के लिए अनुरोध है जिसके बिना मनुष्य परचालित मूक पशु है।

—: श्री :—

हे भगवन्,
हमें विकास मार्ग पर चलने में मदद करो।
हम लक्ष्मी नहीं, श्री चाहते हैं।
लक्ष्मी भौतिक विकास है, धनदौलत का विकास है, दैहिक विकास है।
वह अप्राकृतिक विकास है।
प्राकृतिक विकास तो आध्यात्मिक विकास है।
लक्ष्मी का सही अर्थ श्री ही है, धन-दौलत नहीं।
लक्ष्मी स्वार्थभाव बढ़ाती है, श्री साम्य लाती है।
साम्य प्रेम है।
साम्य में दैहिक भेद के साथ आध्यात्मिक एकता का दर्शन है।

—श्री ओमप्रकाश त्रिखा

● ब्र० जगन्नाथ 'पथिक'

-: स्व-आत्म-अध्ययनम् वा स्वाध्याय :-

महर्षि व्यास के मतानुसार—'प्रणवजपः मोक्षशास्त्रणामध्ययनं वा' स्वाध्याय है—'स्व-आत्म-अध्ययनम् वा स्वाध्यायः' (आत्म-चिन्तन और आत्म-निरीक्षण)।

'स्वाध्यायाद् योगमासीत्
योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्या
परमात्मा प्रकाशते॥'

यह व्यासोक्ति स्मरण रखनी चाहिए प्रत्येक मुमुक्षु को; यदि 'स्वाध्याय' से उक्त साक्षात्कार नहीं होता तो अपनी त्रुटि को खोजना चाहिए। उपरोक्त आवृत्ति चलती ही रहनी चाहिए, तभी—'यस्य अनुग्रहम् इच्छामि तस्य सर्वं हराम्यहम्' इस वाक्य के अनुसार, भगवान् जिसे 'अनुग्रहीत' करना चाहते हैं उसे निष्कण्टक कर देते हैं। जैसे किसी चक्रवर्ती महाराजा के पुत्र अपने पिता के राज्य में निर्भरता के साथ निर्द्वन्द्व होकर सर्वत्र घूम फिर सकते तथा यथारुचि पदार्थों का उपभोग भी कर सकते हैं उसी भाँति उपासक भी अपने सर्वशक्तिमान-सर्वज्ञ-विभु पिता का प्रश्रय पाकर क्या कुछ नहीं पा लेता या पा लेगा ? निर्द्वन्द्व तथा अभय बना वह 'सन्तोष' महानिधि को पाकर परम तृप्त हुआ 'अकाम' बन जाता है, क्योंकि उसमें यह 'श्रद्धा' पैठ जाती है कि न्यायकारी भगवान् जीवमात्र को उसके शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही फल देते हैं। जगत् में जो जैसा करता है वैसा ही फल पाता है, साधु को सुख और असाधु को दुःख अपने कर्मानुसार ही मिला करता है। अतः वह सांसारिक समस्त ऐश्वर्य नष्ट हो जाने पर भी ईशानुग्रही सदा सन्तुष्ट-प्रसन्न चित्त रहा करता है।

पावन 'यजुर्वेद' के 40 वें अध्याय के प्रथम मन्त्र 'ईशा वास्यम्' द्वारा मानव-मात्र पर भगवान् का प्रथम आदेश घोषित किया गया है—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' और इस मन्त्र के अन्तिम पद 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' के द्वारा दूसरा आदेश यह दिया गया है कि—'तुम दूसरे की भोग सामग्री (कंचन-कामिनी आदि) पर झपटना या उसे हड़पना तो दूर रहा, उसकी ओर लालसा भरा दृष्टिपात तक मत करो' (तभी 'अपरिग्रह' की सिद्धि होगी)। त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ विश्वपिता को दुर्बल मानवीय-स्वभाव का पूर्ण ज्ञान था, तभी यह

कल्याणकारी आदेश सृष्टि के आदिम पुरुषों को दे दिया गया था।

'लोभः पापस्य कारणम्' यह आप्त-ऋषियों की खोज है जिसे उन्होंने भी मानव के श्रुति-गोचर कर दिया। 'अहम्' के वशवर्ती बने प्रत्येक अहंमानी-मानव की कामना बहुधा यही रहती है कि येन-केन प्रकारेण अधिकाधिक को हड़प कर उसे अपने अधिकार में ले लिया जाय, भले ही वह सब उसके काम का हो अथवा न हो; 'तृष्णावश' वह ज्ञानादि के साथ 'अज्ञान आदि' का परिग्रह-संग्रह भी कर लेता है। अधिकाधिक की कामना का नाम 'लोभ' है (यह महाद् शत्रुओं में महाबली है) और इसका जनक 'अहम्' है। इस दृष्टि से योग-उक्त समस्त 'क्लेशों' का तथा अभद्रता-अशुभ-पाप-अधर्म-अपराध आदि दुरित-दुष्कर्म मात्र का मूल-कारण 'अहंकार' ही ठहरता है (अहंकार विमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते—गीता)। क्या यह कम चकित कर देने वाली बात है कि विश्व का प्रबुद्धतम-मानव भी 'अहं' की दृढ़तम दासता का भान तक नहीं कर पाता। यदि इसे 'आत्मवशी' बना लिया तो समग्र क्लेशमाला ही निर्मूल और विगलित हो जाती है। अतः मुनिजन कहते आ रहे हैं—यदि मानव इसी जन्म में 'अहम्' पर विजय प्राप्त करके मृत्यु को पछाड़ देता है तो वह 'विश्व-विजेता' पद पा लेता है, क्योंकि यह कर्म नितान्त-कठिन है अन्यथा वह आवागमन-चक्र में पड़ा उसकी प्रतीक्षा में रहे जबकि 'अहं' में निबद्ध विधाता सहित अखिल विश्व तथा ये असंख्य बन्दी जीव-गण 'अस्तं गते संसारे' प्रलय में ही मुक्त होंगे।

ऐषणा-परित्याग—परित्याग, 'इदन्न मम' की भावना वस्तुतः बड़ी दिव्य है और प्रिय भी, विशेषतः एक मुमुक्षु के लिए तो अपरिहार्य रूप से 'अपरिग्रही' होकर यथा-लाभ में ही तुष्ट रहना आवश्यक है। 'परित्याग'—'अपरिग्रह' का उपदेश प्रायः सभी सद्ग्रन्थों में मिलता है जो कि सुनने में कर्ण-प्रिय, कथन में सरल और छोटा होता हुआ भी, करनी में अतिकठिन—दुष्कर कर्म है—"त्याग-वैराग्य का पथ दुरूह है, विशेषतः विषय-विकारों का, उग्ररूप 'ऐषणाओं' का परित्याग कर देना—इन्हें निर्मूल कर देना। परन्तु इस 'सदाचार' का अनुगमन किए बिना कल्याण हो जाना भी सम्भव नहीं है। आत्म-कल्याण के इच्छुक जनों को परमानन्दमय शान्तिधाम 'अपवर्ग' तक पहुँचा देने वाला 'श्रेयपथ' तो बिना कोई हील-हुज्जत किए उपासक से त्याग-परित्याग-सर्वथा निवृत्ति पूर्ण अनासक्ति की मांग करता है, वह भोग अथवा विषयरूप-जगत् के साथ-साथ शरीर तक में अनासक्ति की भावना को चरम-सीमा तक पहुँचा देने का आदेश देता है न कि किसी दोष-विशेष के परित्याग कर देने मात्र से सन्तुष्ट हो जाता है। यमाचार्य ब्रह्मचारी बालयोगी परमवैरागी नचिकेता को 'श्रेय-प्रेत' का भेद दर्शाते हुए कहते हैं—'श्रेय-प्रेय-पथ' जो एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है और नाना प्रयोजन सिद्ध करते हैं, मनुष्य के समक्ष खुले हुए हैं; उनमें से 'श्रेय-पथ' के पथिक का कल्याण हो जाता है और 'प्रेय-पथगामी'—'हीयते—अर्थात् 'इष्ट-भ्रष्ट' हो जाता है।

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

(चाणक्य नीति से)

अत्यन्तकोपः कटुता च वाणी, दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम ।
नीचप्रसंगः कुलहीन सेवा, चिह्नानि देहे नरक स्थितानाम् ।।

नरकवासियों के देह में अत्यन्त क्रोध, कटुवचन, दरिद्रता अपने जनों में बैर नीच का संग, अकुलीन की सेवा, ये चिह्न होते हैं।

× × ×

वाचां शौचं च मनसः शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
सर्वभूतं दया शौचमेतच्छौचं परमार्थिनाम् ।।

परमार्थियों को ही वचन की शुद्धि होती है बुद्धि की शुद्धि इन्द्रियों के संयम, जीवों पर दया और पवित्रता से प्राप्त होती है।

× × ×

पुष्पे गन्धतिले तैलं काष्ठे वह्नि पयोघृतम् ।
इक्षौ गुड़ः तथा देहे पश्यत्यात्मान विवेकतः ।।

जैसे फूल में गन्ध, तिल में तेल, लकड़ी में आग, दूध में घी, ईख में गुड़ होता है वैसे ही विचार करके शरीर में आत्मा को पहचानो।

× × ×

अधमा धनमिच्छन्ति धनं मानं च मध्यमाः ।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महता धनम् ।।

अधम लोग धन को चाहते हैं धन और मान को मध्यम लोग। उत्तम लोग मान को चाहते हैं क्योंकि मनस्वी का धन मान ही होता है।

× × ×

ईक्षुरापःपयो मूलं ताम्बूलं फलमौषधम् ।
भआयत्वापि कर्तव्या स्नानदानादिकाः क्रिया ।।

स्नान दान आदि क्रिया, ईख, जल, दूध, फल और औषधि आदि के सेवन के बाद भी कर सकते हैं।

दीपो भक्षयते ध्वान्तं कज्जलं च प्रसूयते ।
यदन्नं भक्षयते नित्यं जायते तादृशी प्रजाः ॥

दीपक अन्धकार को खाता है और काजल को जन्म देता है। यह सत्य है कि जो सदा जैसा अन्न खाता है उसकी सन्तान वैसी ही होती है।

× × ×

अजीर्णं भेषजं वारिजीवनं बलप्रदम् ।
भोजने चामृत वारि भोजनान्ते विषःप्रदम् ॥

भोजन न पचने पर जल औषधि के समान है पच जाने पर वह बल देता है। भोजन करते समय वह अमृत है और भोजन के अन्त में विष का फल देता है।

× × ×

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हतश्चाज्ञानतो नरः ।
हतं निर्नायकः सैन्यं स्त्रियो नष्टा ह्यभर्तृका ॥

बिना क्रिया के ज्ञान व्यर्थ है ज्ञान न होने से नर नष्ट हो जाता है। बिना सेनापति के सेना मारी जाती है बिना पति के स्त्री नष्ट हो जाती है।

× × ×

अग्निहोत्र विना वेदाः न च दान विना क्रियाः ।
न भावेन विना सिद्धि तस्माद् भावोहिकारणम् ॥

बिना अग्निहोत्र के वेदों का पढ़ना व्यर्थ है, बिना दान के यज्ञादि कर्म नहीं बनते, बिना भाव कोई सिद्धि नहीं होती। अतः भाव ही सबका कारण है।

× × ×

न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे नमृण्मये ।
भावे हि विद्यते देवस्तस्मद्भावो हि कारणम ॥

देवता न काठ में हैं न पाषाण में हैं और न मिट्टी की मूर्ति में हैं देवता भाव में विराजमान रहते हैं। इसलिए भाव ही सब का कारण है।

× × ×

काष्ठपाषाणधात्नानं कृत्वा भावेन सेवनम् ।
श्रद्धया च तथा सिद्धिस्तस्यविणीः प्रसादतः ॥

धातु, काष्ठ, पाषाण को श्रद्धा भाव से ही सेवन करने से तथा भगवत कृपा से भावानुसार ही सिद्ध होती है। ★

☐ श्री विष्णुप्रसाद व्यास

वास्तविक कर्त्तव्य

संसार में चौरासी लाख प्रकार के जितने भी चर-अचर जीव हैं, उनको पैदा करने के साथ-साथ परमपिता परमात्मा उनकी आजीविका अथवा पालन-पोषण का प्रबन्ध भी कर देता है। सबको उनके प्रारब्धानुसार रोजी देने वाला और उनका पालयिता वह स्वयं है और उसे सबकी आजीविका की चिन्ता है। चाहे जल में रहने वाले जीव हों, चाहे पत्थरों में रहने वाले। परमात्मा सबके पालन-पोषण का ध्यान रखता है। उसकी ओर से सृष्टि उत्पन्न करने का कार्य ब्रह्माजी के संहार का कार्य शंकरजी के और पालन-पोषण का कार्य विष्णु जी के सुपुर्द है।

कथा है—एक बार लक्ष्मीजी ने भगवान विष्णु के चरणों में विनय की भगवन्! आप कहते हैं कि आप सबका पालन-पोषण करने वाले हैं और उनकी आजीविका का सदैव ध्यान रखते हैं, तो क्या आज आप सबको भोजन पहुँचा चुके हैं।

भगवान विष्णु ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया हाँ—लक्ष्मी हमारे विचार में सबको भोजन पहुँच चुका है।

लक्ष्मीजी ने कहा—भगवन्! आप भली भाँति सोच-विचार कर लें। शायद किसी जीव को भोजन न पहुँचा हो।

वास्तव में बात यह थी कि लक्ष्मीजी ने एक कीड़े को डिब्बी में बन्द करके और उस डिब्बी को रूमाल में लपेट कर ट्रंक में रख दिया था। वे यह देखना चाहती थीं कि इस कीड़े को भगवान उसका भोजन किस प्रकार पहुँचाते हैं।

लक्ष्मीजी की बात सुनकर भगवान् विष्णु ने उत्तर दिया—हमारे विचार में सबको भोजन पहुँच चुका है, ऐसा कोई प्राणी शेष नहीं, जिसे प्रारब्धानुसार उसका आहार न पहुँचा हो।

भगवान विष्णु के इतना कहते ही लक्ष्मी जी तुरन्त गईं और ट्रंक में से वह डिब्बी निकाल कर ले आईं। जिसके अन्दर वह कीड़ा बन्द था। उन्होंने भगवान के समक्ष ज्योंही डिब्बी खोली, तो यह देखकर अवाक रह गईं कि डिब्बी में एक चावल का दाना पड़ा हुआ है, जिसे खाने में कीड़ा व्यस्त है। सोचने लगीं कि जब मैंने डिब्बी में कीड़े को बन्द किया था, तब तो यह डिब्बी खाली थी, फिर यह चावल का दाना कहाँ से आ गया?

हुआ यह कि लक्ष्मीजी ने माथे पर जो केसर और चावलों का तिलक लगा रखा था, डिब्बी को बन्द करते समय उसमें से एक दाना डिब्बी में गिर गया, जिसे लक्ष्मी जी न देख सकीं।

यह देखकर लक्ष्मीजी ने भगवान से क्षमा याचना करते हुये कहा—भगवन् ! आप वास्तव में ही समस्त जीवों के आहार का ध्यान रखते हैं।

कथा का अभिप्राय, यह है कि सृष्टि में जितने भी जीव प्राणी हैं। सबका पालन-पोषण करने वाला और उनकी आजीविका का ध्यान रखने वाला मालिक स्वयं है, इसलिए हर समय रोजी-रोटी की चिंता में पड़े रहकर जीवन के वास्तविक उद्देश्य—परमात्मा की भजन-भक्ति को भूल जाना कदापि उचित नहीं। जिस परमात्मा ने पैदा किया है वह सबका पालयिता जन्म से पहले ही जीव की आजीविका का प्रबन्ध कर देता है।

सन्त कहते हैं कि ऐ मनुष्य ! तू अपनी आजीविका की चिन्ता मत कर, न ही इसके लिए भाग्य के कार्यालय के पन्नों का उलट-पलट कर परेशान हो, क्योंकि इसकी चिंता स्वयं परमात्मा को है। प्रमाण के रूप में देख कि बच्चे के जन्म लेने से पूर्व ही परमात्मा बच्चे के लिए माता के स्तनों को दूध से भर देता है।

मनुष्य मन में विचार करे कि परमात्मा जबकि जन्म लेने से पूर्व ही मनुष्य के आहार का प्रबन्ध कर देता है, तो क्या उसके बड़ा होने पर उसकी आजीविका का ध्यान न रखेगा ? किन्तु आत्म संसारी मनुष्य इस बात पर विश्वास न करके हर समय आजीविका की चिन्ता में अधीर और परेशान बने रहते हैं।

प्रारब्ध पहले बना, पाछे बन्यौ शरीर।
तुलसी यह आश्चर्य है, मन नहि बाँधे धीर॥
—तुलसीदास जी

आत्म संसारी मनुष्य अज्ञानवश आजीविका की चिंता में पड़कर व्यर्थ ही स्वयं को दुःखी और परेशान किये रहता है। उसे हर समय यही चिंता सताती रहती है कि यदि वह आजीविका का प्रबन्ध न करे, तो शायद वह उसका परिवार तथा आश्रित जन—सभी भूखे मर जायें। किन्तु सत्पुरुषों का कथन है कि यह मनुष्य की भूल एवं अज्ञानता है।

छत्रपति शिवाजी के समय की घटना है। वे एक पहाड़ी के ऊपर किला बनवा रहे थे। जिसके निर्माण में सैकड़ों व्यक्ति लगे हुये थे।

एक दिन शिवाजी किले का निरीक्षण कर रहे थे। इतने व्यक्तियों को काम में लगे देखकर उनके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि मेरे किला बनवाने से कितने लोगों की रोजी-रोटी का प्रबन्ध हो रहा है। यदि मैं यह किला न बनवाता तो पता नहीं इनका गुजारा कैसे चलता ?

शिवाजी के गुरुदेव समर्थ स्वामी रामदास जी समय के पूर्ण महापुरुष थे। महापुरुष तो निकटदर्शी और घट-घट की जानने वाले होते हैं; फिर भला शिवाजी के मन की बात उनसे कहाँ छिपी रह सकती थी ? शिवाजी के मन से इस भ्रम को दूर करने के

लिए वे तुरन्त किले की ओर चल दिये। वे जैसे ही किले के निकट पहुँचे एक सैनिक ने तत्काल शिवाजी को उनके आने की सूचना दी। गुरुदेव के आगमन का समाचार पाकर शिवाजी किले के नीचे उतर आये और गुरुदेव के चरणों में प्रणाम कर हाथ जोड़कर खड़े हो गये। समर्थ स्वामी रामदासजी ने एक बड़े पत्थर की ओर संकेत करते हुए फरमाया—शिवा! इस पत्थर को बीच में से तुड़वाओ।

शिवाजी ने तुरन्त मिस्त्रियों को पत्थर तोड़ने का आदेश दिया। पत्थर के टूटने पर सब यह देखकर आश्चर्य-चकित रह गये कि वह पत्थर बीच में से पोला है, जिसमें पानी भरा है और एक मेंढ़क उसमें बैठा हुआ है। श्री गुरुदेव ने शिवाजी को सम्बोधित करते हुए कहा—शिवा! इस मेंढ़क को खाना-पीना कौन दे रहा है?

गुरुदेव के ये वचन सुनते ही शिवाजी चौंक उठे और उन्हें अपने मन में उत्पन्न वह विचार स्मरण हो आया कि "मेरे किला बनवाने से कितने लोगों को रोजी-रोटी का प्रबन्ध हो गया।" उन्हें अपनी भूल का अनुभव हुआ, अतः उन्होंने गुरुदेव के चरणों में गिरकर क्षमा माँगी।

श्री गुरुदेव ने फरमाया—ऐसा विचार पुनः कभी भी मन में न लाना। सबको रोजी-रोटी देने वाला परमात्मा है। जबकि वह वह पत्थरों में रहने वाले जीवों का भी ध्यान रखता है, तो क्या जो किले के निर्माण में कार्यरत हैं उनका ध्यान वह न रखेगा।

शिवाजी ने अपनी भूल के लिए पुनः क्षमा याचना की।

कहने का अभिप्राय यह है कि सबकी आजीविका तथा पालन-पोषण का दायित्व परमेश्वर का है और वही सबको रोजी-रोटी देता है।

इसलिए इस विषय में मनुष्य को अधिक चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। इसका अर्थ कोई यह न समझ ले कि धनोपार्जन करने अथवा कामकाज करने से मना किया जा रहा है तथा आलसी एवं निकम्मा बन जाने की और कामकाज से जी चुराने की शिक्षा दी जा रही है। नहीं, ऐसा कदापि नहीं। पुरुषार्थ करने तथा सांसारिक कर्त्तव्य कर्मों से जी चुराने की शिक्षा सन्त पुरुष कभी नहीं देते, परन्तु हर समय आजीविका की चिन्ता में मस्त रहकर जीवन के वास्तविक उद्देश्य को भूल जाना—यह कदापि उचित नहीं।

मन में जरा विचार करो कि परमपिता परमात्मा जबकि सृष्टि के अनन्त जीवों का पालन-पोषण कर रहा है, तो क्या वह तुम्हारी सँभाल न करेगा।

भगवान श्री कृष्णचन्द्रजी महाराज का कथन है :—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां
ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां
योग क्षेमं वहाम्यहम्॥

—गीता 9/22

अर्थात्—जो अनन्य प्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वर का निरन्तर चिन्तन-ध्यान करते हुए निष्काम भाव से मेरा भजन करते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा सुमिरण करने वाले मनुष्यों का 'योग क्षेम' मैं स्वयं वहन करता हूँ।

'योग' का अर्थ है—आवश्यकता के उन पदार्थों की प्राप्ति, जिसका मनुष्य के पास अभाव हो और 'क्षेम' का अर्थ है—सुरक्षा। प्रभु का आश्रय ग्रहण कर भजन-सुमिरण में मग्न रहने वाले प्रेमी भक्त के योग और क्षेम का पूरा-पूरा दायित्व प्रभु अपने ऊपर ले लेते हैं। इस कथन पर मनुष्य को तनिक भी संशय नहीं करना चाहिए, क्योंकि सृष्टि के प्रत्येक जीव के (इस बात की ओर ध्यान दिये बिना कि वह प्रभु का सुमिरण भजन करता है अथवा नहीं) पालन-पोषण की चिन्ता जबकि प्रभु को रहती है, तब क्या प्रेमी भक्त, जो केवल उनका ओट-आसरा ग्रहण कर हर समय उनके सुमिरण-भजन में मग्न रहता है, उसके योग क्षेम की चिन्ता वे न करेंगे? अवश्य करेंगे।

अपने भक्तों के योग क्षेम का दायित्व प्रभु अपने ऊपर किस प्रकार ले लेते हैं; यह नीचे लिखे प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है। पहले योग का प्रमाण लीजिए :—

भक्त नरसी मेहताजी की जाति के कुछ व्यक्तियों ने, जो उनसे ईर्ष्या-द्वेष रखते थे, अन्य लोगों को साथ मिलाकर भक्त जी पर इस बात के लिए दबाव डाला कि वे अपने पिता का श्राद्ध करके नगर के सभी ब्राह्मणों को भोजन करायें। यही नहीं, उन लोगों ने यह बात भी नगर में फैला दी कि अमुक दिन श्राद्ध होगा। उन लोगों का विचार था कि भक्त नरसी मेहताजी चूंकि अत्यन्त निर्धन है, अतः वे इस श्राद्ध का प्रबन्ध न कर सकेंगे, जिससे उनकी खूब बदनामी होगी। भक्त नरसी मेहताजी तो पूरी तरह भगवान पर आश्रित थे, अतः वे सब चिंता उसको सौंपकर सुमिरण-ध्यान में मग्न हो गये। भगवान की कृपा से श्राद्ध के लिए सब सामग्री का प्रबन्ध हो गया। यह देखकर सभी लोग चकित रह गये कि इतने सामान का प्रबन्ध इतनी शीघ्र कहाँ से हो गया! श्राद्ध के दिन जबकि ब्राह्मण लोग भोजन करने के लिए एकत्र हो चुके थे, ईर्ष्यालु लोगों ने उनसे कहा कि घी कम पड़ गया है और लाइये। भक्त जी बर्तन लेकर घी लाने के लिए बाजार की ओर चल दिये।

मार्ग में एक सन्त मंडली प्रेम में मग्न होकर हरि कीर्तन कर रही थी। कीर्तन श्रवण करते ही नरसी भक्त जी यह बात भूलकर कि वे घी लाने के लिए घर से निकले हैं, उस कीर्तन में सम्मिलत हो गये। घर में ब्राह्मण भोजन कर रहे थे और नरसीजी का कहीं पता न था। जब काफी देर हो गई और ईर्ष्यालु लोग उनकी पत्नी से बार-बार घी के लिए आग्रह करने लगे तो उनकी पत्नी बदनामी होने के भय से व्याकुल होकर चिंतातुर हो गई। कृपा सिन्धु भगवान ने नरसी का रूप धारण किया और घी लेकर घर पहुँचे। श्राद्ध का कार्य निर्विघ्न समाप्त हुआ। बहुत देर बाद जब कीर्तन बन्द हुआ, तो भक्त जी को होश आया। वे तुरन्त

बाजार गये और घी खरीदकर वापस घर पहुँचे और देर से आने के लिए सबसे क्षमा माँगने लगे। उनकी बात सुनकर सभी अवाक् रह गये। उन लोगों के मुख से जब भक्त जी को सब बात मालूम हुई, तो वे कृपालु प्रभु की कृपा को स्मरण कर आनन्द मग्न हो गये।

प्रभु का दूसरा दायित्व है 'क्षेम' अर्थात् अपने प्रेमी भक्तों की सुरक्षा। इस विषय में भक्त प्रहलाद का प्रमाण तो प्रसिद्ध ही है। उसके पिता हिरण्य कश्यप ने उनके प्राण लेने के लिए कितने ही प्रयत्न किये—उसे पर्वत से गिरवा गया, हाथी के पैरों तले कुचलवाया गया।

जबकि जीव पर प्रभु की ऐसी कृपा हो कि वे उसके 'योग क्षेम' के हर प्रकार से जिम्मेवार बन जायें, तो फिर जीव का भी यह कर्तव्य हो जाता है कि अपनी सब चिन्तायें प्रभु को सौंप कर हर समय प्रभु के सुमिरण-भजन में चित्त जोड़े रखे। बेशक संसार में रहे, संसार के कामकाज भी करे, धनोपार्जन भी करे इससे सन्त पुरुष मना नहीं करते, परन्तु हर समय रोजी-रोटी की चिन्ता में व्यस्त रहकर मनुष्य जन्म के वास्तविक कर्त्तव्य अर्थात् प्रभु की भजन-भक्ति को भूल जाना—यह कदापि उचित नहीं।

इसलिये मनुष्य को चाहिए कि अपने वास्तविक कर्त्तव्य अर्थात् प्रभु की भजन-भक्ति और सुमिरण-ध्यान में अपने जीवन के स्वासों को लगाते हुए अपना लोक-परलोक सफल करें।

'सिद्धयोग' हिन्दी मासिक (पत्रिका) का विवरण

फार्म नं. 4

1. प्रकाशन का स्थान— श्री सिद्धगुफा, सवांई, आगरा (उ. प्र.)
2. प्रकाशन का अवधिक्रम— मासिक
3. मुद्रक का नाम— देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'
   राष्ट्रीयता— भारतीय
   पता— कर्मयोग प्रिण्टिंग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा-1
4. प्रकाशक का नाम— देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कृते सिद्धगुफा प्रकाशन, सवांई (आगरा)
   राष्ट्रीयता— भारतीय
   पता— श्री सिद्ध गुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र सवांई, (आगरा)।
5. सम्पादक का नाम— देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'
   राष्ट्रीयता— भारतीय
   पता— 26/49 दिव्य कुटीर, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा।
6. स्वत्वाधिकारी— ब्रह्मलीन अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज।

मैं देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' यह घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी अधिकतम जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य है।

कृते सिद्ध गुफा प्रकाशन
देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008. FEBRUARY, 1994

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक
श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री _____

_____

_____

_____

सूर्य-स्नान

स्वास्थ्य इच्छुकों को प्रतिदिन सूर्य स्नान कराना चाहिए। इसकी विधि यह है कि सुहाती-सुहाती धूप में अपने सम्पूर्ण शरीर को शक्ति, रुचि एवं ऋतु के अनुसार नंगा रखा जाय। शरीर के प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर सूर्य की किरणें पड़ें। यदि असहनीय हो तो सिर को श्वेत गीले वस्त्र से तथा शरीर के अन्य भागों को सात्विक वृक्षों—जैसे केले, जामुन, आम के पत्तों से ढका जा सकता है। शरीर को धूप में रखने से पसीना आता है। यद्यपि यह एक प्रकार का विष है, तथापि पसीने में ही ठंडे जल से रगड़-रगड़कर स्नान करना अत्यन्त गुणदायक एवं लाभकारी होता है। इस प्रकार पसीने में स्नान करना कभी कोई हानि नहीं करता। जर्मन के प्रसिद्ध जल-चिकित्सक डॉ० लुई कूने ने वाष्प-स्नान के ठीक पश्चात् ठंडे जल से स्नान करने की परिपाटी डाली थी। इस पद्धति के द्वारा हजारों रोगी स्वास्थ्य-लाभ कर चुके हैं और कर रहे हैं।

सूर्यस्नान करने में ऋतु के अनुसार समय एवं अवधि का भी ध्यान रखना चाहिए। ग्रीष्मकाल में प्रातः 8 बजे तक और सायं 4 बजे के पश्चात् एवं शरद् ऋतु में किसी भी समय सूर्यस्नान किया जा सकता है। इसकी अवधि 15 से 30 मिनट तक रखी जानी चाहिये।

प्रकाशक एवं मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' द्वारा कमलेश प्रिन्टिंग प्रेस, बजरंग कटरा, तालाबंद, आगरा